याचिकाएँ, शहर और दक्षिण भारत में शुरूआती औपनिवेशिक राज्य

*अपर्णा बालचंद्रन**

परिचय

यह लेख दक्षिण भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन के तहत शुरुआती औपनिवेशिक शहरीकरण के उलझे हुए इतिहास और कानूनी व्यक्तिपरकता की अभिव्यक्ति की पड़ताल करता है। यह अठारहवीं सदी के अंत और उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में मद्रास के निवासियों द्वारा कंपनी के अधिकारियों को संबोधित याचिकाओं को देखता है तथा ऐसा करते हुए यह विशेष रूप से औपनिवेशिक बंदरगाह शहर में बहिष्कृत समूहों की सामूहिक याचिकाओं पर ध्यान केंद्रित करता है। याचिकाओं का शहर में बहुत लंबा इतिहास रहा है; मद्रास के निवासियों ने सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में इस क्षेत्र में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के शुरुआती दिनों से ही फोर्ट सेंट जॉर्ज में कंपनी के प्रशासन के लिए याचिकाएं दायर की थी। इनमें से कई प्रारंभिक याचिकाओं ने मद्रास में तैनात कंपनी के अंग्रेजी कर्मचारियों की सेवा शर्तों और वेतन के बारे में शिकायतों का रूप ले लिया। वाणिज्य के एक वैश्विक केंद्र के रूप में, शहर में एक अच्छी-खासी, गैर-भारतीय व्यापारी आबादी भी थी, जो व्यापार और संपत्ति विवादों को हल करने के लिए मद्रास सरकार के हस्तक्षेप की मांग करने के लिए अक्सर याचिकाओं का इस्तेमाल करती थी। कंपनी के अधिकारियों को शहर में स्थित विभिन्न ईसाई-रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट-प्रतिष्ठानों के कलहपूर्ण यूरोपीय सदस्यों से बड़ी संख्या में याचिकाएँ प्राप्त हुए, जिन्होंने सरकार से मध्यस्थ के रूप में कार्य करने का आह्वान किया।2

अठारहवीं शताब्दी के अंत तक , क्षेत्र में वाणिज्यिक गतिविधियों में अंग्रेजी की भागीदारी में गिरावट और एक क्षेत्रीय साम्राज्य के केंद्र के रूप में मद्रास के उदय के साथ, याचिकाकर्ताओं की सामाजिक संरचना में बदलाव आया था। इस समय तक , मद्रास सरकार को याचिकाओं की सबसे बड़ी संख्या ईस्ट इंडिया कंपनी के तहत स्वदेशी जनता से थी - एक ओर मंदिर के पदाधिकारियों, जमींदारों और सरकारी लिपिक कर्मचारियों सहित विविध जाति और व्यावसायिक पृष्ठभूमि के

* इतिहास विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

व्यक्ति और समूह, और दूसरी ओर कुशल और अकुशल मजदूर और कारीगर।3 दूसरे समूह के मामले में, राज्य के साथ संचार ने बड़े पैमाने पर सामूहिक याचिकाओं का रूप ले लिया, जो उन सभी के विचारों और हितों को स्पष्ट करने का दावा करती थीं जिनका वे प्रतिनिधित्व करते थे। 4 इन याचिकाओं के बारे में जो बात बेहद आश्चर्यजनक है वह है उनके द्वारा निर्मित आख्यानों में याचिका लेखकों की स्पष्ट रूप से शहरी पहचान की केंद्रीयता है, इस तथ्य के बावजूद कि उनमें से कई शहर के हाल के प्रवासी थे। जाति या धर्म जैसी अन्य पहचानों से हमेशा अलग न होने के बावजूद, शहरी रोजगार ने इन समूहों को राज्य और एक -दूसरे के साथ बातचीत करने और सामाजिक और नैतिक दृष्टि से अपने सामूहिक स्वार्थ की प्रकृति को चित्रित करने में सक्षम बनाया। जैसा कि हम देखेंगे, यह घटना समाज के सबसे कम विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों के याचिकाकर्ताओं के मामले में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य थी - वे बहिष्कृत समूह जो मद्रास सरकार द्वारा नियोजित थे और जिनके श्रम और सेवाएं शहर के कामकाज के लिए आवश्यक थीं।

क्या मद्रास शहर में शहरी श्रमिक समुदायों की ये याचिकाएँ प्रारंभिक औपनिवेशिक कानून और शहरी शासन के रूपों के संवाद चरित्र का संकेत थीं? विद्वानों ने सुझाव दिया है कि इस अवधि में याचिका दायर करने की बाढ़ वास्तव में राज्य के साथ बातचीत के अन्य रूपों के कमजोर पड़ने के साथ घटी थी। मद्रास में, प्रादेशिक साम्राज्य में बदलाव ने कंपनी की दृष्टि और शहरी शासन की प्रथाओं को बदल दिया; स्थानीय प्रतिष्ठित लोगों के साथ सहयोग, जो व्यापारिक शासन के पहले के दौर में शहरी प्रशासन की पहचान थी, अब एक केंद्रीकृत, नौकरशाही प्रशासन की ओर मजबूत प्रवृत्तियों द्वारा प्रतिस्थापित की जा चुकी थी। इस प्रकार, जिस क्षेत्र में याचिकाओं ने मद्रास शहर में राज्य और समाज के बीच दैनिक मुठभेड़ों को प्रलेखित और आकार दिया, वह अब कहीं अधिक पुलिसिंग के साथ-साथ शहर के उन गैर-अभिजात वर्ग के निवासियों के विस्थापन द्वारा चिह्नित किया गया था, जिन्होंने औपनिवेशिक मद्रास का गठन किया था।

यह देखते हुए कि याचिकाएँ स्पष्ट रूप से औपनिवेशिक शासन की देन थीं, जिन्होंने औपनिवेशिक कानून से अपना विशिष्ट रूप और भाषा प्राप्त की, याचिकाकर्ताओं की चेतना के लिए इन ग्रंथों को कैसे पढ़ा जाए? यहाँ ग्रन्थकारिता का मुद्दा पेचीदा है; मैं इसे औपनिवेशिक विषयों की कानूनी आत्म-समझ के विश्लेषण के माध्यम से संबोधित करने का प्रयास करूंगी। मैं तर्क दूंगी कि जैसे ही कोई याचिका संग्रह

में मध्यस्थता की परतों को स्वीकार करता है, इन याचिका संग्रहों का पठन मद्रास शहर की ऐतिहासिक समझ हासिल करने के एकमात्र तरीकों में से एकमात्र तरीकों में से एक है- जैसा कि इसके कम विशेषाधिकार प्राप्त निवासियों द्वारा अनुभव किया गया था। याचिका लेखकों द्वारा प्रदर्शित विविधता और नवीनता औपनिवेशिक कानूनी शासन की भाषा और तर्क को अपनाने और बातचीत करने में औपनिवेशिक वैधता की स्वीकृति और स्वदेशी जनता की क्षमता दोनों को दर्शाते हैं। विशेष रूप से, प्रथागत प्रथा की धारणा की अलग -अलग व्याख्याएं उच्च और निम्न जाति के याचिकाकर्ताओं द्वारा निर्मित अतीत के अलग -अलग आख्यानों का मूल है। उत्तरार्द्ध के बारे में जो सबसे चौंकाने वाला है वह है अधिकारों की एक प्रारंभिक भाषा की अभिव्यक्ति , जिसे एक श्रमसाध्य अतीत की ऐतिहासिक स्मृति के माध्यम से सुनाया गया था, जो कि कृषि दासता से भिन्न शहरी, औपनिवेशिक स्थान से जुड़ा हुआ था।

'मीनेस्ट कास्ट' के याचिकाकर्ता

अठारहवीं शताब्दी के अंत तक एक औपनिवेशिक शहर के रूप में मद्रास का उदय ऐसे पेशों में वृद्धि के साथ हुआ था जो मुख्य रूप से शहरी चरित्र के थे, जबकि इलाके में कृषि का महत्व बना रहा। 5 साक्षर और अद्ध-साक्षर मूल निवासी, इसमें मुख्य रूप से मद्रास सरकार में मुंशी, क्लर्क और अन्य प्रकार के पदाधिकारियों के रूप में रोजगार शामिल था। सामाजिक स्पेक्ट्रम के दूसरे छोर पर इस अवधि में बहुत बड़ी संख्या में छोटे-छोटे व्यापार, कारीगर, और श्रमिक परिक्षेत्रों का प्रसार देखा गया, जो शहर में बढ़ते प्रवास के साथ विस्तारित हुए। वास्तव में, उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत तक , मद्रास में शहरी रोजगारों की विविधता ने इसे एक स्पष्ट रूप से नए सामाजिक और आर्थिक स्थान के रूप में चिह्नित किया।

इस प्रकार, मद्रास में ईस्ट इंडिया कंपनी की सरकार के प्रशासनिक विमर्श के केंद्र में एक पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए प्रतिबद्धता की लफ्फाजी इस तथ्य के विपरीत थी कि यह शहर कृषि के भीतरी इलाकों से काफी अलग था। सार्वजनिक अव्यवस्था की लगातार समस्या, जो कंपनी के अधिकारियों को बहुत परेशान करती थी, स्पष्ट रूप से इसके बदलते सामाजिक भूगोल से जुड़ी हुई थी क्योंकि श्रमिक समुदाय अभूतपूर्व तरीके से शहर में बस गए थे। फोर्ट सेंट जॉर्ज के शहरी बस्तियों की स्थापना के लिए प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार

होने के कम से कम दो उदाहरण हैं जो अक्सर कलह के स्थल थे। पहला छावनी क्षेत्र, जिसमें तमिल क्षेत्र के विभिन्न हिस्सों से निम्न जाति और बहिष्कृत सिपाहियों के समूह रहते थे यहाँ पदानुक्रम और प्रथागत प्रथाओं की धारणाओं में क्षेत्रीय अंतर के चलते आपसी झगड़े और कलह आम थे। दूसरा महत्वपूर्ण मामला सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा अपनी व्यावसायिक जरूरतों को पूरा करने के लिए बनाए गए और बसाए गए बुनाई और कारीगर गांवों का है। हालांकि जहां तक उनके स्थानिक लेआउट का संबंध था. इन इलाकों को जाति के मानदंडों को सम्मान देते हुए सावधानीपूर्वक स्थापित किया गया था। परंतु फिर भी ये इलाके हिंसक तनाव के क्षेत्र थे, क्योंकि जैसा कि औपनिवेशिक अधिकारियों ने पाया कि साक्षर अभिजात वर्ग की सांस्कृतिक विशेषज्ञता, जिनके परामर्श के आधार पर इलाके को बसाया गया था वह क्षेत्र के बाशिंदों की धारणाओं के अनुरूप नहीं थी।7

इस प्रकार यह एक अस्थिर और तेजी से बदलते शहरी संदर्भ में था कि मद्रास के निवासियों ने विभिन्न प्रकार की शिकायतों, दावों और मांगों के साथ सरकार को याचिका दी याचिकाकर्ताओं की सामाजिक स्थिति में भिन्नता के बावजूद इन याचिकाओं में कुछ सामान्य विशेषताएं थीं। पहली याचिकाकर्ताओं को अपने द्वारा उठाये जाने वाले माँगों के अनुकूल रूप से निपटारे के लिए राज्य द्वारा उनसे प्रस्तुत की जाने वाली भाषा और शिष्टता की मांग के अनुरूप होना था। याचिकाओं में अक्सर अपने दावों को बनाने के लिए प्रथा या लंबे समय से प्रचलित अभ्यास की लफ्फाजी का भी आह्वान किया गया था यह एक बिंदु जिस पर बाद में विस्तार से चर्चा की जाएगी। रीति-रिवाजों की धारणा इन दस्तावेजों में दो स्तरों में दिखाई देती है, एक जो एक नैतिक आदेश की और इशारा करता है कि यह राज्य का कर्तव्य था और दूसरी प्रारंभिक औपनिवेशिक कानून द्वारा मांगे गए साक्ष्य प्रोटोकॉल के संदर्भ में। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि याचिकाएं राज्य के लिए लिखित प्रार्थनाएं थीं जो नैतिक और राजनीतिक दृष्टि से और साथ ही बाद में याचिकाकर्ताओं की पहचान आधारित अधिकार की समझ को व्यक्त करती थीं। दोनों के बीच संबंधों की व्याख्या याचिकाकर्ताओं द्वारा किए गए तर्कों और दावों के केंद्र में थी।

शहर के गैर- अभिजात वर्ग के निवासियों की याचिकाओं को अक्सर दो महत्वपूर्ण विशेषताओं द्वारा चिह्नित किया गया था। उन्हें मजदूरों, नौकरों और कारीगरों के रूप में उनकी व्यावसायिक पहचान के संदर्भ में याचिकाकर्ताओं के आत्म-

आरक्षण द्वारा चित्रित किया गया था, जबकि ये हमेशा जाति और धर्म जैसे अन्य संबद्धताओं से अलग नहीं थे। याचिका संग्रह में विभिन्न श्रमिक समूहों का समान रूप से प्रतिनिधित्व नहीं किया गया था, उदाहरण के लिए, इतिहासकारों ने अठारहवी और उन्नीसवीं शताब्दी में औपनिवेशिक दक्षिण भारत के विभिन्न हिस्सों में कपड़ा श्रमिकों से बड़ी संख्या में प्राप्त याचिकाओं की ओर इशारा किया है। ये दस्तावेज इस क्षेत्र में संगठन और कार्य की स्थितियों और उस पर औपनिवेशिक शासन के प्रभाव के बारे में विस्तार से जानकारी प्रदान करते हैं। 9 जबकि अन्य प्रकार के श्रम के बारे में अभिलेख काफी विस्तृत नहीं है, फिर भी याचिकाएँ समुदायों की भौतिक स्थितियों के बारे में हमें कुछ समझ प्रदान करती हैं. जिन तक हमारी पहुंच नहीं होती। कुछ मामलों में, वे कम प्रसिद्ध व्यवसायों के साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं जिन्हें निश्चित रूप से इतिहाँस द्वारा भुला दिया गया होता। इसका एक उदाहरण 1785 में लिखी गई मद्रास शहर के टकसाल सुनारों की एक याचिका है. जिसमें कुछ हद तक पेशे की प्रकृति का वर्णन किया गया है, जिसमें इसके वंशानुगत चरित्र और सिक्कों को गढ़ने और परखने के लिए इस्तेमाल की जाने वाली तकनीक का विवरण शामिल है।10

इन याचिकाओं की एक दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे आम तौर पर सामूहिक थी, न कि अलग -अलग याचिकाकर्ताओं की ओर से जबकि याचिकाकर्ता दस्तावेजों में किए गए तर्कों पर अपनी सहमति दर्ज करने के लिए दस्तावेजों पर अक्सर हस्ताक्षर करते थे या किसी प्रकार का निशान छोड़ते थे, याचिकाएं अक्सर कास्ट हेडमेन' द्वारा लिखी जाती थीं। गौरतलब है कि यह एक ऐसा शब्द था जो पूर्व औपनिवेशिक या कृषि संदर्भ से नहीं लिया गया था। अठारहवीं शताब्दी की शुरुआत में, यह स्थानीय प्रतिष्ठित लोगों को संदर्भित करता था, जिन्हें मद्रास सरकार द्वारा शहर में श्रम और अन्य सेवाएं प्रदान करने वाले व्यावसायिक समूहों के नेताओं के रूप में पहचाना गया था। 11

आम तौर पर शहरी याचिकाओं की तरह , श्रमिक समूहों की सामूहिक याचिकाओं का विषय दोनों ही शहर के दैनिक जीवन को बनाने वाले संघर्षों और मुद्दों के उत्पाद थे और इनमें योगदान भी कार्टेबथे। इन याचिकाओं में से कई शहरी भूमि के नियंत्रण और उपयोग से लेकर सामुदायिक अधिकारों के विवादों, समारोहों और अनुष्ठानों तक के मामलों पर संघर्ष और उनके उचित आचरण का निर्धारण, शहरी समुदायों के बीच गड़बड़ी को शांत करने. मध्यस्थता करने और

नियंत्रण करने के लिए राज्य के तरफ से उचित प्रयासों की माँग के साथ लिखे गए थे। उत्तराध के मामले में याचिकाओं में लगभग विस्मयकारी नृवंशविज्ञान संबंधी सूक्ष्म विवरण शामिल हैं। एक और अखाड़ा, जो एक दुर्जेय कागजी निशान को पीछे छोड़ गया था, वह राज्य से शासन की ज्यादतियों से राहत के लिए अपील कर रहा था, चाहे वह भूमि या कर निर्धारण के रूप में हमले हो।

हालांकि, यह नोट करना महत्वपूर्ण है कि हालांकि इनमें से कई याचिकाएं इस समय श्रम की दुनिया के बारे में मूल्यवान जानकारी के स्रोत हैं. वे केवल वर्णनात्मक प्रकृति की नहीं थीं। उन्होंने मद्रास सरकार के रूप में राज्य के साथ उनके संबंधों का प्रतिनिधित्व करते हुए सामाजिक, नैतिक और राजनीतिक दृष्टि से सामूहिक पहचान की भावना को व्यक्त किया। यह निम्न जाति और बहिष्कृत समूहों के लिए विशेष रूप से सच था, जहां औपनिवेशिक अधिकारियों के साथ उनके संचार में उनके व्यवसायों की घोषणा सर्व महत्वपूर्ण धुरी थी जिस पर उनके दावे टिके हुए थे। वास्तव में, बहिष्कृत परिया याचिकाओं की छोटी संख्या में यह एक उल्लेखनीय विशेषता है12 जो अठारहवी सदी के अंत और उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में फोर्ट सेंट जॉर्ज को भेजी गई थीं, जिसमें उनकी आवासीय बस्तियाँ (पैराचेरि) की सरकारी सुरक्षा की मांग की गई थी, जो शहरी भूमि के स्वामित्व को विनियमित करने और संहिताबद्ध करने के राज्य के प्रयासों के चलते खतरे में थीं। 13

शहरी संदर्भ में, बहिष्कृतश्रम में मैला ढोने वाले जैसे शारिरिक श्रम करने वाले मजदूरों के साथ-साथ मद्रास सरकार द्वारा नियोजित स्वच्छता और निर्माण श्रमिक शामिल थे। इसके अलावा वे घरेलू नौकर थे जो शहर में रहने वाले यूरोपीय लोगों के घरों में काम करते थे। छावनी क्षेत्रों में तैनात सैनिकों और अन्य सैन्य सेवकों की बहुत बड़ी संख्या भी महत्वपूर्ण थी। 14 शहर की स्थापना और दैनिक कामकाज तथा वास्तव में साम्राज्य को बनाने में इस श्रम का मूल्य, याचिकाकर्ताओं की चेतना का हिस्सा था। उन्होंने खुद को घौर सीमांतता के रूप में वर्णित करते हुए भी अपने व्यवसायों की प्रकृति के कारण राज्य द्वारा विशेष उपचार और संरक्षण की माँग रखी। जबकि यह संभव है कि याचिकाकर्ताओं ने कृषि के साथ संबंध बनाए रखे हों, जहां से उनमें से कई मूल रूप से आए थे, पर याचिकाओं के इन आख्यानों में कृषि श्रम की दुनिया आश्चर्यजनक रूप से अनुपस्थित है। इसके बजाय, यह शहरी श्रमिकों के रूप में उनकी स्थिति थी जो उन्हें राज्य के ध्यान के योग्य बनाती थी। उदाहरण के लिए, 1810 में, औपनिवेशिक सेना के साथ उनके संबंधों को फोर्ट सेंट जॉर्ज के बहिष्कृत

परियाहाँ के एक समूह के आवेदन पर विचार करने के कारण के रूप में उद्धृत किया गया था, जिन्होंने शहर के विकास गतिविधियों से सुरक्षा की मांग की थी, जो उनके पैराचेरी को खतरे में डाल रही थीम यहाँ याचिकाकर्ताओं ने तर्क दिया कि दक्षिण भारत में कंपनी की सेना को दी गई सेवाओं के लिए उन्हें किसी भी तरह से मुआवजा नहीं दिया ग या था, सिवाय एक पूर्व संकल्प के कि पैराचेरी अविचलित और संरक्षित बना रहेगा। अब उन्हें उम्मीद थी कि मद्रास सरकार द्वारा इस संकल्प को बरकरार रखा जाएगा:

हैदर नाइक की शत्रुता और युद्ध में जब सर आइरे कूट ने मैदान संभाला, तो सरकार और आपके याचिकाकर्ताओं ने सेना को डोली, रसोइया, घुड़सवार, घास काटने वाले और लोडिंग कुली के साथ सेना की आपूर्ति करने का निर्देश दिया है, क्योंकि आपके याचिकाकर्ता सरकार के नौकर हैं आपके याचिकाकर्ताओं ने 10,000 से अधिक लोगों के साथ सेना की आपूर्ति की है, लेकिन सरकार से किसी भी पेंशन या दान के योग्य होने का सौभाग्य नहीं मिला है, लेकिन सरकारी रिकॉर्ड पर केवल एक मिनट पारित किया है जो दर्शाता है कि आपके याचिकाकर्ता अपने जीवन में खुश और वैराग्य में रहेंगे पारचेरी अच्छी तरह से जानता है कि आपके याचिकाकर्ता गरीब लोग हैं। --15

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की एक अन्य याचिका में पैराचेरी भूमि पर लगान लगाने का विरोध किया गया। एक बार फिर इस कथा में समुदाय की हाशिए और शक्तिहीनता पर प्रकाश डाला गया है, और साथ ही उनके काम के लिए पारिश्रमिक की कमी को भी रेखांकित किया गया। हालांकि, जब वे खुद को निचले' के रूप में वर्णित करते हैं, तो यह स्पष्ट है कि याचिकाकर्ताओं को अपने श्रम के मूल्य का बहुत स्पष्ट बोध था। यह याचिका विशेष रूप से दिलचस्प है क्योंकि उनके व्यवसायों के महत्व का आहवान उन नौकरियों की विस्तृत और आकर्षक सूची के साथ था जो शहर में यूरोपीय घरों के रखरखाव के लिए महत्वपूर्ण थे:

यह कि आपके याचिकाकता इस बस्ती के सज्जनों और महिलाओं के मामूली नौकर हैं, जैसे कि बटलर , बटलर साथी, रसोइया, रसोइया साथी, राउंडेल बॉय, कोचमैन, पालकी बॉय, हॉर्स कीपर, यास कटर , सूखी और गोली नर्स, पानी की बच्चियों, मैला ढोने वाले ठेले चलाने वाले, टोटी, महिला सफाईकर्मी, और लैम्प लाइटर, और सी, और उनका वेतन बहुत कम है और खुद को और परिवार को बनाए रखने के लिए अपर्याप्त है और आगे, आपके याचिकाकर्ता सबसे

नीच जाति के हैं, और किसी भी देश की शक्तियों से परेशानी के मामले में, आपके याचिकाकर्ताओं की कास्ट पूरी तरह से दुश्मन की दया के अधीन हो जाएगी यदि आपके याचिकाकर्ताओं को उनके घरों और उक्त मैदान से बेदखल कर दिया जाना चाहिए, जैसा कि कोई अन्य कास्ट उनके घरों में बाउंड एज के भीतर उनका ध्यान नहीं रखेगा 16 याचिका इसलिए भी उल्लेखनीय है क्योंकि इसमें घरेलू सेवा का विवरण शामिल है, एक ऐसा मुद्दा जिस पर औपनिवेशिक भारत में श्रम के इतिहास की चर्चाओं में शायद ही कभी विचार किया जाता है।17 यह उस स्थान पर भी प्रकाश डालता है जो बहिष्कृत नौकरों के पास यूरोपीय प्रतिष्ठानों के अंतरंग स्थानों में था जैसा कि मिसाल के तौर पर रसोइया और दाई कुछ ऐसा जो एक देशी, उच्च जाति के घर में असंभव होता।

यदि पैराचेरी याचिकाएं अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध में राज्य के बहिष्कृत समूहों द्वारा संचार के एक समूज का प्रतिनिधित्व करती हैं, तो दूसरा ईसाइयों द्वारा मद्रास सरकार को अपील के रूप में पाया जाता है. या अधिक विशेष रूप से रोमन कैथोलिक समुदाय द्वारा जो संबद्ध थे उन चर्चा के लिए जो शहर में पुर्तगाली पैडरोडो या फ्रेंच कैपुचिन मिशन के अधिकार क्षेत्र में आते थे। 18 हालांकि इन अपीलों ने स्पष्ट रूप से लेखकों की व्यावसायिक पहचान का उल्लेख न हीं किया, यह तर्क देने के लिए कल्पना की एक विशेष छलांग नहीं है ये याचिकाकर्ता कंपनी के कर्मचारी थे जो शहर को आवश्यक सेवाएं प्रदान करते थे। इस धारणा का एक कारण यह है कि याचिकाओं के दोनों समूह मद्रास में स्थित पैराचैरी बस्तियों से निकले प्रतीत होते हैं। इस प्रकार, ऊपर वर्णित पैराचेरी याचिकाओं के लिखे जाने के लगभग एक दशक बाद इन बस्तियों के निम्न जाति और बहिष्कृत रोमन कैथोलिक निवासियों ने यूरोपीय चर्च के अधिकारियों द्वारा अपने चर्चा को चलाने के बारे में शिकायत की अनुष्ठान, प्रार्थना और चर्च पदाधिकारियों के नामांकन के संदर्भ में इस बात की पूरी संभावना है कि ये याचिकाकर्ता भी लेखक थे या कम से कम पैराचेरी याचिकाओं के लेखकों से जुड़े थे। 1812 का एक आकर्षक और लंबा खींचा हुआ मामला सेंट थॉमस माउंट में रहने वाले ईसाई पारिया के एक समूह की याचिका के साथ शुरू हुआ, जो शहर के एक प्रसिद्ध पुर्तगाली चर्च से संबद्ध थे। इस समूह ने मद्रास सरकार को उनके चर्च के यूरोपीय पुजारी द्वारा एक विशेष मुखिया की नियुक्ति के विरोध में याचिकाएं भेजी, यह कहते हुए कि उनके विद्रोह के लिए उन्हें बहिष्कृत कर दिया गया था। अपनी

बारी में सरकार यह घोषणा करती है कि याचिकाकर्ता नैतिकता या धर्म के खिलाफ किसी भी अपराध के दोषी नहीं थे और यह कि बहिष्कार को निरस्त कर दिया जाए। मूल याचिका के पाठ ने यह स्पष्ट कर दिया कि याचिकाकर्ताओं को चर्च प्राधिकरण की पदानुक्रमित संरचना के बारे में पता था और उनकी शिकायतों को न केवल उनके पुजारी के खिलाफ निर्देशित किया गया था, बल्कि मैलापुर के बिशप भी थे जिनके अधिकार क्षेत्र में चर्च आता था।

स्पष्ट रूप से तब वे इस मामले में हस्तक्षेप करने के लिए फोर्ट सेंट जॉर्ज को कहने में शहर में कैथोलिक संस्थानों और प्रोटेस्टेंट सरकार के बीच विरोध के बारे में जानते थे, और कुशलता से इसका फायदा उठाते थे। यह उल्लेखनीय है कि विवाद का विषय एक मुखिया का नामांकन था, जो न केवल एक धार्मिक प्राधिकरण के रूप में महत्वपूर्ण था, जो संस्कारों को प्रशासित कर सकता था, बल्कि बड़े पैमाने पर अपने समुदाय, राज्य और समाज के बीच एक आर्थिक और सामाजिक मध्यस्थ के रूप में उसकी भूमिका थी। 19

व्यावसायिक पहचान और धर्म के बीच यह संबंध विशेष रूप से मद्रास शहर के रायपुरम के मछली पकड़ने वाले गांव के निम्न जाति के ईसाई नाविकों के मामले में स्पष्ट किया गया था। मद्रास सरकार द्वारा रायपुरम के निवासियों को नाविकों के रूप में नियुक्त किया गया था, जो पर्याप्त बंदरगाह की कमी के कारण जहाजों से सामान को तट पर लाने के लिए जिम्मेदार थे। वर्षों से रायपुरम के नाविकों ने अपने गांव में एक चर्च के निर्माण के लिए धन दिया था जो कैपचिन मिशन के तत्वावधान में कार्य करता था। आश्चर्य नहीं कि चर्च के कैथ्रिन अधिकारियों के व्यवहार से नाराज होने पर , मण्डली के सदस्यों ने मद्रास सरकार को दृढ़ता से अपना गुस्सा व्यक्त किया और इसकी मध्यस्थता के लिए बुलाया। इन मुठभेड़ों में सबसे लंबी और नाटकीय मुठभेड़ों में से एक 1806 में हुई थी, जब रायपुरम के नाविकों ने चर्च के पुजारी के रूप में फ्रांसीसी तपस्वी फाटर लैम्बर्ट की नियुक्ति का विरोध करते हुए फोर्ट सेंट जॉर्ज को एक विस्तृत याचिका भेजी थी। याचिका में उन्होंने दावा किया कि लैम्बर्ट 'अशिष्ट और बुरे 'व्यवहार' वाले थे और उन्होंने एक पुजारी की मांग की जो तमिल बोल सकता था और जो उनकी जाति का था। 20 औपनिवेशिक याचिका के माध्यम से किए गए इन मामलों को चिन्हित करने वाले दावे केवल प्रशासन के बारे में मामूली शिकायत नहीं थे। उन्होंने एक सबाल्टर्न ईसाई समुदाय की पहचान की रूपरेखा का वर्णन किया जो यूरोपीय लोगों द्वारा निर्धारित ईसाई धर्म की

मान्यताओं और प्रथाओं के विपरीत थी। 21 स्पष्ट रूप से, शहरी श्रमिकों के रूप में याचिकाकर्ताओं की स्थिति ने औपनिवेशिक वैधता का ज्ञान और आत्म मूल्य की भावना प्रदान की जिसने इस तरह की अभिव्यक्ति की अनुमति दी।

मद्रास शहर में उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में शहरी श्रमिक समूहों द्वारा याचिका दायर करने की बाद को कोई कैसे समझाता है? क्या यह परिघटना प्रारंभिक औपनिवेशिक कानूनी व्यवस्था के लचीलेपन का संकेत है और एक "सुनने वाले राज्य के अस्तित्व का प्रमाण है? यह ध्यान देने योग्य है कि जैसा कि राधिका सिंहा ने बताया है प्रारंभिक औपनिवेशिक कानूनी व्यवस्था का अपेक्षाकृत अस्थायी, चिंतित चरित्र, जिसे पीछे हटने और समायोजन द्वारा चिह्नित किया गया था, उन विकासों के साथ-साथ चला गया जिन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उपनिवेशवाद के उच्चतर कानूनी प्रणाली की नींव रखी। 22 इस प्रकार, उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत में, प्रारंभिक औपनिवेशिक कानून की विशेषताएं, जिसमें मुल कानूनी बहुलवाद का अंत और बढ़ती नौकरशाही और शासन का केंद्रीकरण शामिल था, जिसके मद्रास जैसे शहरों के शासन के लिए महत्वपूर्ण प्रभाव होने वाले थे।

इस तथ्य को नज़रअंदाज करने की प्रवृत्ति है कि मद्रास के औपनिवेशिक शहर की सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी की शुरुआत में वाणिज्य के एक वैश्विक केंद्र के रूप में मौजूदगी थी जिसने दुनिया भर से एक विषम बहुजातीय आबादी को आकर्षित किया। 23 कंपनी ने इस स्थान की कल्पना एक व्यापारिक केंद्र के रूप में की थी, जिसकी सफलता स्थानीय अभिजात वर्ग के साथ काम करने पर निर्भर थी जो अपने अंतर्गत आने वाले समूहों के हितों का प्रतिनिधित्व करते थे। कंपनी के अधिकारियों ने नाटकीय रूप से मद्रास कॉर्पोरेशन जैसे संस्थानों के माध्यम से इस तरह के सहयोग में अपने निवेश का प्रमाण पेश किया, जिसमें इसके सदस्यों में प्रभावशाली देशी व्यापारी और याचिका जैसे उपकरण शामिल थे, जिन्होंने समाज के प्रमुख सदस्यों की राय पर ध्यान दिया।

हालांकि, जैसा कि फिलिप स्टर्न ने हाल ही में शुरुआती औपनिवेशिक बॉम्बे के मामले में उल्लेख किया है, जबकि याचिका नागरिक समाज के रूपों के अस्तित्व का सुझाव देती प्रतीत होती है नागरिक समाज ने राज्य की शक्ति को सीमित नहीं किया इसके बजाय इसने औपनिवेशिक सरकार के साथ मिलकर राज्य की न्यायिक स्थापना और इ सकी संप्रभुता की पुष्टि के लिए काम किया। 24 फिर भी रोज़मर्रा के प्रशासन के संदर्भ में, जो प्रकट हुआ वह मद्रास सरकार द्वारा प्रशासन की एक व्यापक,

व्यावहारिक समझ थी जिसने मुख्य रूप से शहर के व्यापारिक अभिजात वर्ग के संदर्भ में उपनिवेशों के साथ उनकी बातचीत के महत्व को देखा, लेकिन दैनिक शासन में विभिन्न श्रमिक समूहों के नेताओं को भी शामिल किया। जैसा कि हमने पहले देखा है, श्रमिक समूहों के ये नेता पदनामित मुखिया थे और उदाहरण के लिए, नए करों को लागू करने, या शहरी समुदायों के बीच विवादों के निपटारे से संबंधित मामलों पर उनसे सक्रिय रूप से परामर्श किया गया था। 25

अठारहवीं शताब्दी के अंत में क्षेत्रीय शासन की शुरुआत के साथ एक साझे स्थान के रूप में शहर की औपनिवेशिक दृष्टि धीरे-धीरे समाप्त हो गई , जिसने शहरी समुदायों को शासन से अलग होते देखा। शहर का रोजमर्रा का काम अब स्वदेशी जनता के साथ परामर्श के बजाय पूर्ववर्ती औपनिवेशिक उदाहरणों पर आधारित था। जबकि स्वदेशी न्यायाधिकरण और विभिन्न प्रकार की परिषदें अभी भी कार्य कर रही थीं, उनके द्वारा औपनिवेशिक वैधता को नियंत्रित करने वाले साक्ष्य मानदंडों को अपनाना इस बात द्योतक था कि उन्हें प्रभावी रूप से बदनाम और गैर-प्रभावी बना दिया गया था। 26 शहर में रहने वाले बहिष्कृत समूह जो मद्रास समाज के सबसे कम विशेषाधिकार प्राप्त वर्गों का गठन करते थे, इन बदलावों के चलते अब दोहरे स्तर पर शक्तिहीन थे। वे बड़े पैमाने पर मद्रास सरकार और समाज दोनों द्वारा बड़े पैमाने पर अवैध माने जाते थे, जिन्होंने दावा किया था कि वे कर छूट के अयोग्य थे जो उन्हें सदी के पहले भाग में सदा के लिए। गई थी। जैसा कि हमने पहले उल्लेख किया है, चूंकि शहरी भूमि 1770 के दशक में बिक्री योग्य हो गई थी, इस अवधि ने शहर के उपनगरीयकरण की सुविधा के लिए 'नगर विकास प्रयासों की एक श्रृंखला देखी। यह एक ऐसी प्रक्रिया जिसके लिए 'मद्रास के पारिया के आवासीय इलाकों को हटाने और निकासी की आवश्यकता थी। 27 इस प्रकार यह मद्रास सरकार द्वारा शहरी क्षेत्र से बहिष्कृत समूहों के भौतिक और वैचारिक हाशियाकरण के संदर्भ में है कि पैराचेरी याचिकाएं लिखी गई। कंपनी के रिकार्ड भी मुसीबत पैदा करने वाले परियाओं के डर की बात करते हैं, जिन्हें हिंसक और विद्रोह के लिए उकसाने में सक्षम माना जाता था, खासकर अठारहवीं शताब्दी के अंत में शहर में कई विद्रोहों के मद्देनजर इसके परिणामस्वरूप कंपनी के अधिकारियों की ओर से इन समुदायों और शहर में उनकी संख्या पर नजर रखने के लिए एक ठोस प्रयास किया गया | 28

उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत तक एक अधिक स्पष्ट रूप से परिभाषित कानूनी प्रणाली के उद्भव के भी श्रमिक याचिकाकर्ताओं के लिए महत्वपूर्ण परिणाम थे। पहले श्रमिक समूहों के पास विरोध के तरीकों का भंडार था, जिसमें पारंपरिक तरीके शामिल थे, जैसे कि काम से इनकार करना और छोड़ देना, जिन्हें औपनिवेशिक राज्य द्वारा विरोध के वैध तरीकों के रूप में स्वीकार किया गया था। अठारहवीं शताब्दी की शुरुआत में मद्रास सरकार के साथ बातचीत करने के लिए निचली जाति और बहिष्कृत श्रमिकों की वापसी शहरी विवादों की एक लगातार विशेषता थी। हालांकि, इस समय तक कार्रवाई का एकमात्र तरीका जो उपलब्ध था और कानूनी रूप से संज्ञेय था-वह थी याचिका इसलिए यह असहमति के लिए सिकुड़ती जगह का प्रतिनिधि था, न कि लचीली, अनुकूल कानूनी प्रणाली का संकेत था30

निष्कर्ष

प्रारंभिक औपनिवेशिक मद्रास से याचिकाओं का संग्रह अठारहवीं सदी के अंत और उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में शहरी शासन की प्रकृति में बदलाव के साथ-साथ प्रारंभिक उपनिवेशवाद की कानूनी संस्कृति और इससे जुड़े हुए शहरी संस्कृति की दास्तान सुनाता है। इस अवधि में मद्रास शहर के सबाल्टर्न निवासियों द्वारा याचिकाओं के बढ़ते उपयोग को देखा गया। यह तब हुआ जब वे औपनिवेशिक शहरी कल्पना से विस्थापित होने के साथ-साथ व्यावहारिक रूप से विस्थापित भी हुए। सीमित रूप में ही सही और इनकी मध्यस्थ भूमिका के बावजूद, इन याचिकाओं में राज्य से उनके पक्ष में जिस तरह के पहल की अपील की जा रही थी, उससे इस बढ़ते हुए शहर में मेहनतकशों की ज़िंदगी के कई पहलू सामने आते हैं। इस प्रकार, उस समय के शहरी श्रमिक समूहों की सामूहिक याचिकाओं में गैर-अभिजात वर्ग के रोज़मर्रा के जीवन का वह भौतिक विवरण सामने आता है जो अन्यथा हमारे सामने कभी नहीं आता। इसके अलावा, भले ही उन्होंने औपनिवेशिक याचिका की सामान्य विशेषता को बनाए रखा, हमने देखा है कि विभिन्न सामाजिक समूहों के याचिका लेखकों ने प्रारंभिक औपनिवेशिक याचिकाओं की केंद्रीय सजीव विशेषता - लंबे समय से स्थापित प्रथागत अभ्यास की वैधता को चित्रित करने में काफी रचनात्मकता प्रदर्शित की है। शब्दावली के विनियोग और प्रारंभिक औपनिवेशिक कानून के औचित्य ने याचिकाकर्ता समुदायों के लिए सामुदायिक स्वत्व की प्रकृति के बारे में अपनी समझ को स्पष्ट करना संभव बनाया। बहिष्कृत याचिकाओं के मामले में, ये आख्यान दावा करने की एक प्रारंभिक आधुनिक भाषा को दिखाते हैं,

जिसने औपनिवेशिक कानून द्वारा गठित और सबाल्टर्न कानूनी विषयों द्वारा आबाद एक शुरुआती आधुनिक शहरी जनता के उद्भव को सक्षम किया।

नोट्स :

1. याचिका बेशक, मद्रास या दक्षिण भारत तक ही सीमित नहीं थी और पूरे ब्रिटिश भारत में एक सामान्य गतिविधि थी। याचिका भी पूर्व-औपनिवेशिक की एक विशेषता थी राजनीतिक आदेश जहां विषयों ने अर्ज़ी, अर्ज़दश्त, विन्नप्पम, आदि में लेखन के माध्यम से निवारण की मांग की। औपनिवेशिक शासन के तहत याचिकाओं और याचिकाओं के परिवर्तन के विवरण के लिए, भवानी रमन , दस्तावेज़ राज: प्रारंभिक औपनिवेशिक दक्षिण भारत में लेखन और लेखक देखें (शिकागो: विश्वविद्यालय) शिकागो, 2012), पीपी। 161-191।
2. ईस्ट इंडिया कंपनी के रिकॉर्ड, विशेष रूप से सार्वजनिक, न्यायिक, राजस्व और राजस्व विभाग के बोर्ड याचिकाओं से भरे हुए हैं, जो क्षेत्र में एक अंग्रेजी उपस्थिति की शुरुआती अवधि से हैं। ईस्ट इंडिया कंपनी के सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के संग्रह से याचिकाओं के उदाहरण आधिकारिक अभिलेखों से कई मुद्रित संकलनों में पाए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए देखें, एच .डी. लव , वेस्टीज ऑफ ओल्ड मद्रास, 1640-1800; फोर्ट सेंट जॉर्ज और भारत कार्यालय में संरक्षित ईस्ट इंडिया कंपनी के रिकॉर्ड और अन्य स्रोतों से पता लगाया गया। खंड 1– 3 (लंदन: जे. मूर्रे, 1913); और टालब्वायज व्हीलर, मद्रास इन ओल्डन टाइम्स: बीइंग ए हिस्ट्री ऑफ द प्रेसीडेंसी फ्रॉम द फर्स्ट फाउंडेशन। खंड 1– 3 (मद्रास: हिगिनबोथम्स, 1861)। केनेथ बालहैचेट ने शहर में विभिन्न कैथोलिक संप्रदायों के बीच प्रतिद्वंद्विता पर एक विशेष रूप से दिलचस्प चर्चा की है: के. बालहैचेट, कास्ट, क्लास एंड कैथोलिकिज्म इन इंडिया, 1789-1914 (लंदन: कर्जन प्रेस, 1998), पीपी। 79-110 देखें।
3. प्रारंभिक औपनिवेशिक प्रशासन और दक्षिण भारत में स्वदेशी समाज के बीच संबंधों के अवलोकन के लिए, जिसने प्राथमिक स्रोत के रूप में व्यापक रूप से याचिकाओं का उपयोग किया है, कनकलता मुकुंद देखें , द व्यू फ्रॉम बिलोः इंडिजीनियस सोसाइटी, टेंपल्स एंड द अर्ली कॉलोनियल स्टेट इन तमिलनाडु 1700-1835 (दिल्ली: ओरिएंट लॉन्गमैन, 2005)।

4. प्रारंभिक औपनिवेशिक दक्षिण भारत में कंपनी राज्य को याचिका देने की प्रथा, निश्चित रूप से, शहरी क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं थी। हालाँकि, यह लेख मद्रास शहर की याचिकाओं पर केंद्रित है क्योंकि लेखक की रुचि के अलावा, जल्दी
5. औपनिवेशिक मद्रास का 'शहरी' चरित्र इतिहासकारों के बीच कुछ अटकलों का विषय रहा है। चार शहरी कोर के साथ, जिसने अपनी कई कृषि सुविधाओं को बनाए रखा, और इसके परिवेश में कई गांवों की उपस्थिति, इसकी उपस्थिति को ग्रामीण चरित्र के रूप में देखा जा सकता है। हालांकि, अठारहवीं शताब्दी के अंत तक , बढ़ते क्षेत्रीय और सैन्य राज्य की जरूरतों ने मद्रास श हर में भूमि के स्वामित्व और उपयोग में काफी बदलाव किया था। इस अवधि में वाणिज्यिक बागवानी के महत्व में वृद्धि और भवन निर्माण के लिए भूमि की आवश्यकता के साथ एक शहरी संपत्ति बाजार का उदय देखा गया जो शहर में सामाजिक संबंधों पर काफी प्रभाव डालेगा। रवि आहूजा, 'गरीबों का शोषण: शहरी भूमि नियंत्रण और औपनिवेशिक प्रशासन देर से अठारहवीं शताब्दी मद्रास सिटी', इतिहास में अध्ययन 17(1) (2001), पीपी। 81-99। मद्रास में प्रारंभिक औपनिवेशिक शहरीकरण की स्थानिक विशेषताओं के विवरण के लिए, सुसान नील बसु, 'औपनिवेशिक शहरीवाद: अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान मद्रास शहर का विकास', आधुनिक एशियाई अध्ययन 13 (1979), पीपी। 217-245 देखें।
6. धर्म कुमार, 'द फॉरगॉटन सेक्टर: सर्विसेज इन मद्रास प्रेसीडेंसी इन द फर्स्ट हाफ ऑफ द नाइनटीन्थ सेंचुरी', इंडियन इकोनॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू 24 (1987), पीपी। 367-393।
7. संभवतः इन बस्तियों में सबसे महत्वपूर्ण चिंताद्रिपेट्टा गांव था जो 1730 के दशक में स्थापित किया गया था और बुनकरों और कताई करने वालों के समुदायों द्वारा बसाया गया था, जो सरकार के लिए वस्त्रों के शांतिपूर्ण उत्पादन में लगे हुए थे। नियोजित सड़कों, पेड़ों, बाजारों और मंदिरों से चिह्नित, चिंताद्रिपेट्टा का उद्देश्य कृषि आवासीय लेआउट को दोहराना था वहां बसी विभिन्न जातियों के बीच संघर्ष को रोका जा सके। वास्तव में, हालांकि, कंपनी के अधिकारियों की उम्मीदों के विपरीत, यह इलाका शुरू से ही समस्याओं का अड्डा था, एक ऐसी समस्या जो अठारहवीं शताब्दी में बढ़ती गई क्योंकि

अधिक से अधिक लोग वहां बस गए। जबकि तनाव के लिए ट्रिगर घटना से घटना में भिन्न था, निश्चित रूप से एक केंद्रीय मुद्दा औपनिवेशिक अधिकारियों द्वारा कृषि संदर्भ से नए शहरी संदर्भ में परंपरा के हुक्मों को निर्धारित करने, ठीक करने और प्रत्यारोपण करने का प्रयास था। शहर में विभिन्न 'बसे हुए' गांवों के विवरण के लिए, देखें चार्ल्स डी. मैकलीन, मैनुअल ऑफ द एडमिनिस्ट्रेशन ऑफ मद्रास प्रेसीडेंसी (मद्रास: सी.ई . कीज़, 1893), वॉल्यूम। 3, पीपी. 447-450.

8. रमन , दस्तावेज़ राज, पीपी देखें। 161-191।
9. उदाहरण के लिए देखें, पोटुकुची स्वर्णलता, 'रिवोल्ट, टेस्टिमनी, पेटिशन: आर्टिसनल प्रोटेस्ट्स इन कोलोनियल आंध्र', लेक्स हीर्मा वैन वॉस (संपा.), सोशल में याचिकाएं हिस्ट्री, इंटरनेशनल रिव्यू ऑफ सोशल हिस्ट्री सप्लीमेंट 9 (कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 2002), पीपी। 107-130।
10. लव , वेस्टीज ऑफ ओल्ड मद्रास, वॉल्यूम। 3, पृ. 376.
11. मद्रास में शुरुआती औपनिवेशिक शहरी शासन के उत्पाद के रूप में 'कास्ट हेड' की चर्चा के लिए, अपर्णा बालचंद्रन, 'ऑफ कॉरपोरेशन एंड कास्ट हेड्स: अर्बन रूल इन कंपनी मद्रास, 1640-1720', जर्नल ऑफ कॉलोनियलिज्म एंड कोलोनियल हिस्ट्री 9 देखें। (2008)। यहां उपलब्ध है: https://muse.jhu.edu/, [4 अक्टूबर 2018 को एक्सेस किया गया]।
12. 'परैया' शब्द का मेरा प्रयोग इसके जटिल समकालीन राजनीतिक महत्व को नहीं दर्शाता है। इसे प्रारंभिक औपनिवेशिक संग्रह में एक श्रेणी के रूप में यहाँ उद्धृत किया गया है।
13. अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मद्रास शहर में शहरी भूमि अधिकारों की संरचना के परिवर्तन के विवरण के लिए, जिसके कारण समाज के निम्न और बहिष्कृत वर्गों का निष्कासन हुआ, आहूजा, 'गरीबों का निष्कासन' देखें।
14. उस समय दक्षिण भारत में बहिष्कृत समूहों के लिए रोजगार के अवसरों के खुलने की चर्चा के लिए, डेविड वॉशब्रुक, 'लैंड एंड लेबर इन लेट अठारहवीं शताब्दी दक्षिण भारत: द गोल्डन एज ऑफ द पारिया', पीटर रॉब (एड।), दलित आंदोलन और भारत में श्रम के अर्थ (नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1993), पीपी। 68-86।

15. 'प्रमुख परिहारों और महान पारचेर के निवासियों की विनम्र याचिका वाई', सार्वजनिक परामर्श, 6 अप्रैल 1810, तमिलनाडु राज्य अभिलेखागार (इसके बाद टीएनएसए)।
16. लव , वेस्टीज ऑफ ओल्ड मद्रास, वॉल्यूम। 3, पृ. 135.
17. उल्लेखनीय अपवादों में इंद्राणी चटर्जी, भारत में लिंग, दासता और कानून शामिल हैं (दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2002); और दुर्बा घोष, 'घरेलू अपराध और डोमेस्टिक ऑर्डर: कीपिंग द पीस इन कोलोनियल कलकत्ता, c.1770-c.1840', मॉडर्न एशियन स्टडीज 38(3) (2004), पीपी। 599-623।
18. मद्रास सरकार और शहर में विभिन्न कैथोलिक संप्रदायों से संबंधित चर्चों के बीच एक लंबा और भयावह संबंध मौजूद था, जो बदले में एक -दूसरे के साथ कड़ी प्रतिस्पर्धा में भी थे। इन चर्चों में प्रोपेगैंडा फाइड के तहत फ्रेंच कैपुचिन मिशन द्वारा चलाए जा र हे चर्च और पुर्तगाली चर्च शामिल थे जो पैडरोडो के अधिकार क्षेत्र में आते थे; बड़ी संख्या में निम्न और बहिष्कृत ईसाई दोनों से संबद्ध थे। बालहैचेट, जाति, वर्ग और कैथोलिकवाद देखें, पीपी। 79-110।
19. 'सेंट थॉमस माउंट पर रहने वाले सभी ईसाई परिचारकों की विनम्र याचिका', 27 अक्टूबर 1812, टीएनएसए; थोड़े बाद के मामले के लिए, 'मद्रास के महान पारचेरी के सभी ईसाई पारियों का विनम्र प्रतिनिधित्व', 23 सितंबर और 4 अगस्त 1814, टीएनएसए देखें।
20. अंततः मद्रास सरकार द्वारा नाविकों के पक्ष में मामला सुलझा लिया गया। मद्रास पब्लिक प्रोसीडिंग्स, 19 अगस्त 1806, इंडिया ऑफिस रिकॉर्ड्स, ब्रिटिश लाइब्रेरी।
21. एक ऐसे परिप्रेक्ष्य के लिए जो यह तर्क देता है कि उन्नीसवीं शताब्दी की शुरुआत में मद्रास में निम्न और बहिष्कृत ईसाई विरोध एक विशिष्ट सबाल्टर्न, देशी ईसाई धर्म के दावे का प्रतिनिधित्व करते थे, देखें अपर्णा बालचंद्रन, 'कैथोलिक्स इन प्रोटेस्ट: लोअर कास्ट क्रिश्चियनिटी इन अर्ली कोलोनियल मद्रास', स्टडीज़ इन हिस्ट्री 16 (2000), पीपी। 241-253।
22. राधिका सिंघा, ए डेस्पोटिज्म ऑफ लॉ: क्राइम एंड जस्टिस इन अर्ली कोलोनियल इंडिया (दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1998)।

23. इस व्यापारिक दुनिया के विवरण के लिए, देखें सिन्नप्पा अरासारत्नम, कोरामंडल तट पर व्यापारी, कंपनियां और वाणिज्य 1650– 1750 (दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1986); कनकलता मुकुंद, द ट्रेडिंग वर्ल्ड ऑफ द तमिल मर्चेंट (हैदराबाद: ओरिएंट लॉन्गमैन, 1999); प्रसन्नन पार्थसारथी, द ट्रांजिशन टू ए कोलोनियल इकोनॉमी: वीवर्स, मर्चेंट्स एंड किंग्स इन साउथ इंडिया (कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 2001)।
24. देखें फिलिप जे. स्टर्न, 'पॉवर, पेटिशन्स एंड द "पोवो' इन अर्ली ब्रिटिश बॉम्बे', अपर्णा बालचंद्रन, रश्मी पंत और भवानी रमन (एड्स), इटरेशन्स ऑफ़ लॉ: लीगल हिस्ट्रीज़ फ्रॉम इंडिया (दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस) , 2017), पीपी। 187– 209।
25. बालचंद्रन, 'निगमों और जाति प्रमुखों के'। इस अवधि में कानून और प्रशासन की एक और चर्चा के लिए, जिसमें प्रारंभिक औपनिवेशिक कानून अदालतों के कामकाज की विस्तृत जांच शामिल है, आर्थर मिशेल फ्रास देखें, 'वे एक गलत अक्षांश में फंस गए हैं: इंग्लैंड के कानून, भारतीय बस्तियां और ब्रिटिश इंपीरियल संविधान ', पीएचडी थीसिस, ड्यूक यूनिवर्सिटी, 2011। एक निगम के रूप में ईस्ट इंडिया कंपनी की प्रकृति पर एक प्रदर्शनी के लिए, जिसने संप्रभु राजनीतिक शक्ति का प्रयोग किया, फिलिप स्टर्न, कंपनी-राज्य: कॉर्पोरेट संप्रभुता और ब्रिटिश साम्राज्य की प्रारंभिक आधुनिक नींव देखें। भारत में (ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2011)।
26. अपर्णा बालचंद्रन, 'पेटिशन टाउन: लॉ, कॉलोनियलिज्म एंड अर्बन स्पेस' देखें इन कोलोनियल साउथ इंडिया', बालचंद्रन, पंत और रमन (एड्स) में, इटरेशन्स ऑफ लॉ, पीपी. 147-167।
27. रवि आहूजा, 'प्रारंभिक औपनिवेशिक संदर्भ में श्रम संबंध: मद्रास 1750-1800', आधुनिक एशियाई अध्ययन 36 (2002), पीपी। 793-826।
28. राजस्व परामर्श बोर्ड, 23 सितंबर 1804, टीएनएसए।
29. अठारहवीं शताब्दी की शुरुआत से कंपनी के रिकॉर्ड में विरोध के इस तरीके के कई उदाहरण हैं। बहिष्कृत श्रमिकों द्वारा आवश्यक सेवाओं की वापसी को आमतौर पर उच्च जाति के मुखियाओं द्वारा उकसाया जाता था, जिन्हें दक्षिणपंथी और बाएं हाथ के समूह कहा जाता था और इस अवधि में शहरी जीवन की एक प्रमुख विशेषता थी। इन समूहों में उच्च जाति के नेता

शामिल थे, जो पदानुक्रम के निचले पायदान पर बहिष्कृत थे (उदाहरण के लिए, पारिया क्रमशः दाहिने हाथ के थे और पल्लर क्रमशः बाएं हाथ के समूहों के थे)। लेफ्ट-हैंड और राइट-हैंड कास्ट्स के बारे में अधिक जानकारी के लिए, अर्जुन अप्पादुराई, 'दक्षिण भारत में राइट एंड लेफ्ट हैंड कास्ट्स', इंडियन इकोनॉमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू 1(1) (1974); या, हाल ही में, नील्स ब्रिमनेस, कंस्ट्रक्टिंग द कोलोनियल एनकाउंटर: राइट एंड लेफ्ट हैंड कास्ट्स इन अर्ली कोलोनियल साउथ इंडिया (सरे: कर्जन प्रेस, 1999)।

30. देखें स्वर्णलता, 'विद्रोह, गवाही', पीपी। 109-110; और रमन , दस्तावेज़ राज, पी। 163.
31. उदाहरण के लिए, रिचर्ड सौमारेज़ स्मिथ, रूल बाय रिकॉर्ड: लैंड रजिस्ट्रेशन एंड विलेज कस्टम इन अर्ली ब्रिटिश पंजाब (दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1996); एम्मा टार्लो, अनसेटलिंग मेमोरीज़: नैरेटिव्स ऑफ़ द इमरजेंसी इन इंडिया (दिल्ली: परमानेंट ब्लैक,2003); रमन , दस्तावेज़ राज; मैथ्यू हल , पेपर की सरकार: शहरी पाकिस्तान में नौकरशाही की भौतिकता (बर्कले: कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय प्रेस, 2012); फ्रांसिस कोडी, द लाइट ऑफ नॉलेज: लिटरेसी एक्टिविज्म एंड द पॉलिटिक्स ऑफ राइटिंग इन साउथ इंडिया (इथाका: कॉर्नेल यूनिवर्सिटी प्रेस, 2013); नयनिका माथुर, लॉ, ब्यूरोक्रेसी एंड द डेवलपमेंटल स्टेट इन हिमालयन इंडिया (कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 2016)।
32. याचिकाएं लिपिक अंग्रेजी या 'कचरी' या 'ऑफिस' तमिल में फारसी, हिंदुस्तानी, तमिल, तेलुगु और अंग्रेजी ऋण शब्दों के साथ लिखी गई थीं। उन्हें कंपनी के अधिकारियों के लिए जोर से पढ़ा गया और , यदि महत्वपूर्ण समझा गया, तो उनमें से कुछ का अनुवाद किया गया और फाइल किया गया कंपनी के रिकॉर्ड में। रमन , दस्तावेज़ राज, पीपी. 161-192.
33. वही।
34. याचिकाओं की मद्रास रजिस्ट्री, जो 1817 में शुरू हुई, स्थान के कारणों से, कुछ संबंधित विवरणों के साथ याचिकाओं को सूचीबद्ध करती है, बल्कि पूरे पाठ को शामिल करती है। कुछ असाधारण मामलों में, वास्तविक याचिकाओं को भी संग्रह में रखा गया था, लेकिन इनमें से अधिकांश दस्तावेज मूल याचिकाकर्ताओं द्वारा उपयोग किए जाने वाले कागज की खराब गुणवत्ता के कारण बिखर गए

हैं। परिणामस्वरूप, याचिकाओं तक हमारी अधिकांश पहुंच कंपनी के अधिकारियों द्वारा अन्य अभिलेखों के बीच उनके संदर्भों से आती है। माइकल कट्टन, कोलोनियल लिस्ट्स/कोलोनियल पावर: आइडेंटिटी फॉर्मेशन इन नाइनटीन्थ सेंचुरी तेलुगु स्पीकिंग इंडिया (न्यूयॉर्क: कोलंबिया यूनिवर्सिटी प्रेस, 2005), अध्याय 3 देखें। यहां उपल ब्ध है: http://www.gutenberg-e.org/kam01/, [4 अक्टूबर 2018 को एक्सेस किया गया]।

35. उदाहरण के लिए, अपने क्लासिक निबंध में, शाहिद अमीन 1922 में गोरखपुर के एक छोटे से शहर में 23 पुलिसकर्मियों की हत्या के आरोपियों के मुकदमे को एक परिणाम के रूप में विखंडित करता है। जिनमें से गांधी जी ने असहयोग आंदोलन वापस ले लिया। उनके विश्लेषण के केंद्र में सरकारी गवाह शिकारी का आंकड़ा है, जिसकी गवाही अपराध के आरोपियों को दोषी ठहराने के लिए महत्वपूर्ण थी। अमीन मजबूती से तर्क देते हैं कि अदालत में शिकारी की घोषणा न्यायिक प्रवचन थी, एक रैखिक दृढ़ता द्वारा चिह्नित एक स्व-निहित कथा जो अभियोजन पक्ष के लिए सबूत के रूप में काम करेगी। शाहिद अमीन, 'अनुमोदनकर्ता की गवाही, न्यायिक प्रवचन: चौरी चौरा का मामला', रणजीत गुहा (संपा.), सबाल्टर्न स्टडीज़ वॉल्यूम में। वी (दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1987), पीपी. 166-202.
36. नताली जेमन डेविस, फिक्शन इन द आर्काइव्स: पार्डन टेल्स एंड देयर टेलर्स इन सिक्सटीन्थ सेंचुरी फ्रांस (स्टैनफोर्ड: स्टैनफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1988)।
37. भारत में औपनिवेशिक राज्य अलग -अलग क्षेत्रों में अलग -अलग समय पर रीति-रिवाजों के विचार के प्रति प्रतिबद्ध था। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में, रीति-रिवाज का विचार अबाधित अतीत के उपयोग को संदर्भित करता है और मुद्दों को कराधान और अनुष्ठान प्रथाओं के रूप में विविध रूप में संदर्भित कर सकता है। इसे 1857 के बाद के राज्य के कस्टम में नृवंशविज्ञान संबंधी जानकारी के रूप में निवेश से अलग किया जाना चाहिए। देखें निकोलस डर्क्स, कास्ट्स ऑफ़ माइंड: कॉलोनियलिज़्म एंड द मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न इंडिया (प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 2001)।
38. दक्षिण भारत में प्रारंभिक औपनिवेशिक कानून के लिए रिवाज के महत्व की चर्चा के लिए, देखें अपर्णा बालचंद्रन, 'द मेनी पास्ट्स ऑफ मामूल: कस्टम, लॉ एंड रिलिजियस आइडेंटिटी इन नाइनटीन्थ सेंचुरी साउथ इंडिया', ऐनी मर्फी

(एड .), टाइम में। एंड द रिलिजियस इमेजिनरी इन साउथ एशिया (रूटलेज: न्यूयॉर्क, 2011), पीपी. 84-99; और बालचंद्रन, 'पेटिशन टाउन'।

39. राजस्व परामर्श, 5 जनवरी 1827, टीएनएसए।
40. देखें मुकुंद, द व्यू फ्रॉम बिलो, पृ. 67.
41. भवानी रमन बताते हैं कि राज्य द्वारा मांगे गए दस्तावेजी सत्यापन के परिणामस्वरूप बड़ी संख्या में जालसाजी के मामले सामने आए , जिसने कंपनी मद्रास में औपनिवेशिक अधिकारियों को निराश किया। देखें रमन , दस्तावेज़ राज, पीपी. 137-160।
42. लव , वेस्टीज ऑफ ओल्ड मद्रास, वॉल्यूम। 3, पृ. 384.
43. हेनरी यूल, आर्थर कोक बर्नेल और विलियम क्रुक, हॉब्सन-जॉब्सन: ए ग्लोसरी ऑफ़ कोलोक्वियल एंग्लो इंडियन वर्ड्स एंड फ्रेज़ेज़, एंड ऑफ़ किन्ड्रेड टर्म्स , व्युत्पत्ति विज्ञान, ऐतिहासिक, भौगोलिक और विवेकपूर्ण (लंदन: जे. मरे, 1903), पी। 549.
44. उदाहरण के लिए देखें, रोजालिंड ओ'हलन , कास्ट, कॉन्फ्लिक्ट एंड आइडियोलॉजी: महात्मा ज्योतिराव फुले एंड लो कास्ट प्रोटेस्ट इन वेस्टर्न इंडिया (कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1985)।
45. उदाहरण के लिए देखें, जी. अलॉयसियस, रिलिजन एज़ इमैन्सिपेटरी आइडियोलॉजी: अ बुद्धिस्ट मूवमेंट अमंग द तमिल्स अंडर कॉलोनियलिज़्म (मद्रास: क्रिश्चियन इंस्टीट्यूट फ़ॉर द स्टडी ऑफ़ रिलिजन एंड सोसाइटी, 1998)।
46. उदय कुमार, 'डॉ पाल्पू की याचिका लेखन और केरल के अतीत', NMML समसामयिक पेपर, नई श्रृंखला 59 (2014)। बहुत दिलचस्प रूप से, कुमार केरल के लिए एक वैकल्पिक इतिहास की अभिव्यक्ति में याचिका प्रपत्र के महत्व की ओर इशारा करते हैं जो समुदाय के खोए हुए इतिहास को पुनर्स्थापित करेगा।
47. एडगर थर्स्टन, दक्षिणी भारत की जाति और जनजाति (मद्रास: गवर्नमेंट प्रेस, 1909), वॉल्यूम। 6, पीपी. 86-88.
48. 'दी हम्बल पिटीशन ऑफ़ द हेड पारियाज़ एंड इनहैबिटेंट्स ऑफ़ द ग्रेट पारचेरी, पब्लिक कंसल्टेशन', 6 अप्रैल 1810।
49. उक्त।

50. 'साक्षर मानसिकता' शब्द का प्रयोग हाल ही में अठारहवीं शताब्दी में पूर्व-औपनिवेशिक राजस्थान के कानूनी शासनों में दस्तावेजी प्रथाओं पर चर्चा में निम्न जाति मेहर सुनार सुनार समुदाय के संबंध में नंदिता सहाय द्वारा किया गया है। देखें नंदिता सहाय, 'टू माउंट ऑर नॉट टू माउंट: कोर्ट रिकॉर्ड्स एंड लॉ मेकिंग इन अर्ली मॉडर्न राजस्थान', बालाचंद्रन, पंत और रमन (एड्स), इटरेशन्स ऑफ लॉ, पीपी. 168-186 में।
51. उदाहरण के लिए देखें, केनेथ डब्ल्यू जोन्स (संपा.), ब्रिटिश भारत में धार्मिक विवाद: दक्षिण एशियाई भाषाओं में संवाद (अल्बानी: स्टेट यूनिवर्सिटी ऑफ न्यूयॉर्क प्रेस, 1992); एवरिल पॉवेल, मुस्लिम्स एंड मिशनरीज इन प्री-म्यूटिनी इंडिया (रिचमंड, सरे: कर्जन प्रेस, 1993); राम सुंदरी मंटेना, 'वर्नाक्युलर पब्लिक्स एंड पॉलिटिकल मॉडर्निटी: लैंग्वेज एंड प्रोग्रेस इन कोलोनियल साउथ इंडिया', मॉडर्न एशियन स्टडीज 47(5) (2013), पीपी। 1678-1705; वीना नरेगल, लैंग्वेज पॉलिटिक्स, एलीट्स एंड द पब्लिक स्फीयर (नई दिल्ली: परमानेंट ब्लैक, 2001)।
52. तमिल प्रिंट और एसोसिएशन-आधारित साहित्यिक संस्कृति के उद्भव के विवरण के लिए, देखें स्टुअर्ट ब्लैकबर्न, प्रिंट, लोकगीत और औपनिवेशिक दक्षिण भारत में राष्ट्रवाद (दिल्ली: ओरिएंट ब्लैकस्वान, 2006), पीपी। 73-124। उन्नीसवीं सदी के मध्य में इस परिवेश में उभरे प्रशासनिक और पेशेवर अभिजात वर्ग के विश्लेषण के लिए , देखें सी. सुन्थरालिंगम, पॉलिटिक्स एंड नेशनलिस्ट अवेकनिंग इन साउथ इंडिया, 1852-1891 (टक्सन : एरिजोना विश्वविद्यालय प्रेस, 1974)।
53. पामेला प्राइस, 'एक्टिंग इन पब्लिक वर्सेस फॉर्मिंग ए पब्लिक: कॉन्फ्लिक्ट प्रोसेसिंग एंड पॉलिटिकल मोबिलाइजेशन इन नाइनटीन्थ सेंचुरी साउथ इंडिया', कीथ ई . यांडाल और जॉन जे. पॉल (एड्स) में, रिलिजन एंड पब्लिक कल्चर: एनकाउंटर्स एंड आइडेंटिटीज इन मॉडर्न साउथ एशिया (सरे: कर्जन, 2000), पीपी. 27-55. इस बात की चर्चा के लिए कि कैसे ब्रिटिश अदालतें उन तरीकों को बदल देंगी जिनमें व्यक्ति और समुदाय सार्वजनिक रूप से खुद का प्रतिनिधित्व करते हैं, देखें मैटिसन माइन्स, 'अठारहवीं सदी में कोर्ट ऑफ लॉ एंड स्टाइल्स ऑफ सेल्फ इन अठारहवीं

शताब्दी मद्रास: हाईब्रिड टू कोलोनियल सेल्फ', मॉडर्न एशियन स्टडीज 35 (2001), पीपी. 33-74.

54. मैंने प्रिंट के माध्यम से संचार के साधनों से 'गोपनीयता' को हटाने के इस विचार को सत्रहवीं शताब्दी के इंग्लैंड में सार्वजनिक क्षेत्र के उद्भव के डेविड ज़ेरेट के विश्लेषण से उधार लिया है। डेविड ज़ेरेट, प्रिंटिंग, पेटिशन, एंड पब्लिक स्फीयर इन अर्ली-मॉडर्न इंग्लैंड (प्रिंसटन: प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 2000), पीपी। 44-61।
55. धार्मिक मामलों में सरकार के हस्तक्षेप के विषय पर मद्रास नेटिव एसोसिएशन के सदस्यों और अन्य, हिंदुओं, मुसलमानों, मद्रास के प्रेसीडेंसी के निवासियों की ओर से माननीय लॉर्ड स्टेनली, भारत के सचिव के लिए स्मारक (मद्रास: हिंदू प्रेस) , 1859)।
56. देखें डेनिस हडसन , प्रोटेस्टेंट ओरिजिन्स इन इंडिया: तमिल इवेंजेलिकल क्रिस्चियन, 1706-1835 (ग्रैंड रैपिड्स, मिशिगन: एर्डमैन्स पब्लिशिंग, 2000)।
57. हम पहले ही देख चुके हैं कि सत्रहवीं और अठारहवीं सदी की शुरुआत में उच्च जाति के मुखिया अपनी सामूहिकता के बहिष्कृत सदस्यों द्वारा शहर से श्रम की वापसी को उकसाकर मद्रास सरकार के साथ बातचीत करेंगे। इस समय बहिष्कृत सम्मान पर हमलों के विरोध के कई उदाहरण भी हैं, जिन्हें समग्र रूप से समूह की गरिमा के प्रति अपमान माना जाता था। ये विरोध प्रतीकात्मक हो सकते हैं या कभी-कभी शारीरिक हिंसा के माध्यम से व्यक्त किए जाते हैं। 1707 में एक यादगार उदाहरण में, मद्रास में दक्षिणपंथी जाति के प्रमुखों ने एक विवादित सड़क पर बहुत धूमधाम और समारोह के साथ एक परिया विवाह किया। अठारहवीं शताब्दी के अंत तक , आत्मीयता के ऐसे भाव लगभग गायब हो गए थे। सार्वजनिक परामर्श देखें, 26 जून, 7 जुलाई 1707, टीएनएसए।
58. मिश्रित फाइलें, मई 1795, राजस्व परामर्श, टीएनएसए। उपनिवेशित और कंपनी राज्य के बीच एक संवाद मुठभेड़ के रूप में तमिल देश में प्रारंभिक उपनिवेशवाद के एक खाते के हिस्से के रूप में विद्रोह की व्याख्या के लिए, देखें यूजीन इर्शिक, संवाद और इतिहास: दक्षिण भारत का निर्माण, 1795-1895 (बर्कले: विश्वविद्यालय कैलिफोर्निया प्रेस, 1994)।

59. मूल्य, 'सार्वजनिक रूप से अभिनय बनाम जनता का निर्माण', पीपी। 27-55।

60. अब दक्षिण एशिया में जनता पर छात्रवृत्ति का एक दुर्जेय निकाय है। इस मुद्दे पर उत्तेजक निबंधों के शुरुआती सेट के लिए, विशेष अंक 'पहलुओं के पहलू' देखें पब्लिक इन कोलोनियल साउथ एशिया', साउथ एशिया: जर्नल ऑफ साउथ एशियन स्टडीज 14 (1991), सैंड्रिया फ्रीटाग द्वारा एक प्रस्तावना के साथ। इस विषय पर साहित्य के हालिया पुनर्मूल्यांकन के लिए, जे. बार्टन स्कॉट और ब्रैनन डी. इनग्राम, 'व्हाट इज ए पब्लिक: नोट्स फ्रॉम साउथ एशिया', साउथ एशिया: जर्नल ऑफ साउथ एशियन स्टडीज 38 (2015), पीपी 350 देखें। -370।

***

Domestic Dog (*canis familiaris)* in Harappan Civilisation

Sajjan Kumar, Ph.D
Department of History
University of Delhi, Delhi-07
Email: skumar1@history.du.ac.in

Dogs have actually been a part of the humans' lifestyle since the time of hunter-gatherers. Domestic dogs typically occur in human settlements, but whether their ancestors were originally domesticated for some use or just came to roam the village border is still a matter of debate. The domestication of dog estimates ranges from well before c. 10,000 BCE in Iraq[1].

For prepare this research paper both archaeological and archaeo-zoological evidences have been used to define the domestic dog in the Harappan period. In the ambit of archaeological evidences fall indirect evidences stand for evidences like paintings on the pots and figurines in various materials, whereas including the archaeo-zoological evidences like bone and teeth also.

The earliest remains of domestic dog have been recovered from the Mesolithic site in India at Adamgarh c. 8th – 3rd millennium BCE[2]. According to Mathpal's chronology, 14 drawings of dog have been found from the Mesolithic/prehistoric period at Bhimbetka.[3]

Archaeological evidences of dog

Mehargarh III has yielded a terracotta dog figurine. Such figurines have also been found in Kulli-Mehi complex, Gumla II[4] and Sarai Khola II[5]. Lothal has yielded a large number and variety of terracotta figurines of dog than any other Harappan site. The majority of them are crude and therefore, presumed to be the handiwork of

[1] P. Turnbull and C. Reed, (1974), The fauna from the terminal Pleistocene of Palegawra Cave, a Zarzian occupation site in north-eastern Iraq, *Fieldiana Anthropology* 63, 3, pp. 81–146
[2] B. Nath, (1967), Animal Remains from Prabhas, Gujrat State, *Indian Museum Bulletin*, Vol. 2, No. 2
[3] Yashodhar Mathpal, (1984), *Prehistoric Rock Paintings of Bhimbetka, Central India*, Abhinav Publications, New Delhi
[4] A. H. Dani, (1970-71), Excavation in the Gomal Valley, *Ancient Pakistan*, Vol. V, pp. 8-120

[5] M. A. Halim, (1972), Excavation at Sarai Khola, Pakistan Archaeology. No. 7, p. 29

children. A few figurines are, however, realistic. Three distinct breeds of dogs, namely, the common pariah dog[6], the mastiff[7] and hound can be made out by excavator.

The dog's motifs on pottery have been noticed from some sites. From the excavations at Rehman Dheri pottery remains bearing painting of a dog along the rim were encountered[8].

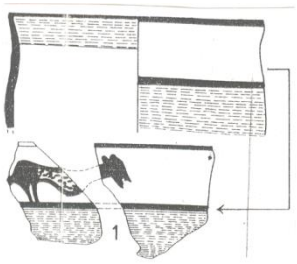

Fig. 1

Fig. 2

On a shred from Rehman Dheri (fig. 1 and fig. 2) beautiful dog motifs have been drawn by the potter or painter. The dog's mouth is open, and teeth are clearly visible and eyes and ears are carefully drawn.

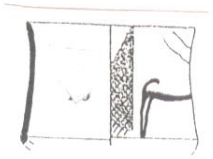

fig. 4

fig. 5

From Rangpur[9] in fig. 4, a dog motif is found in standing position, neck and mouth portion are missing, the tail drawn is slightly curved on the body portion. The

[6] Rao, S. R., (1985), A Harappan Port Town 1955-62, *Memoirs of Archaeological Survey of India (MOASI), No.78,*, p.482, Pl. CCII, B

[7] *Ibid,* Pl. CCII, C

[8] F. A. Durrani, (1988), Excavation in the Gomal Valley: Rehman Dheri excavation report, No.I, *Ancient Pakistan,* No.6, pp.1-204

[9] S. R. Rao, (1962-63), Excavation at Rangpur and other Exploration in Gujarat, *Ancient India,* No. 18-19, New Delhi, pp. 5-207

whole body is filled with black colour. And another interesting motif (fig. 5), peacock, dog and two humpless bulls with human motifs are found from Harappa.

The dog figurines have been found in various materials from the Harappan sites. Seven terracotta dog's figurines have been found from Mohenjodaro. Two dogs have a tightly twisted tail, lop ears and a short powerful muzzle and one has a stout collar round its neck[10]. Models of dogs of another type found in the lower levels[11] have longer faces, upright tails and prick ears; and these closely resemble certain ancient Egyptian representations of dogs[12]. In all probability these mastiffs indicate that dog was kept as pets and in some cases for hunting. Some of the models of dogs are found to be wearing substantial collar. Collars are shown around the neck of some of the figurines (fig. 6 and 7), reinforcing their domestic status[13].

Terracotta dogs with collar figurine have been found from Harappa (fig. 6&7). A terracotta dog figurine has been found from Sanauli (fig.8).

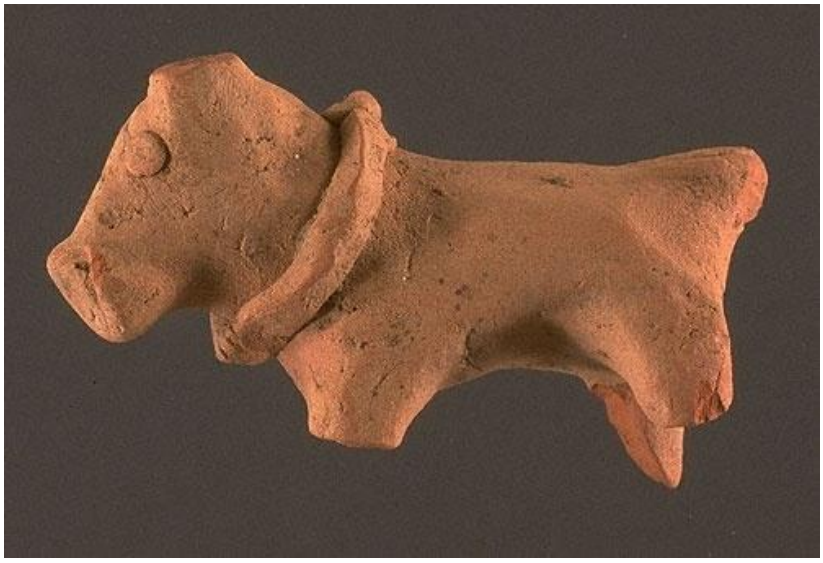

Fig. 6 Terracotta Dog figurine with a projecting collar from Harappa[14]

[10] E. J. H. Mackey, (1937-38), *Further Excavations at Mohenjodar,* Pl. LXXVII, 16 & 17

[11] *Ibid,* Pl. LXXVII, LXXIX, 4, 6,11,12 & 15.

[12] *Ibid,* p. 286

[13] J. R. McINTOSH, (2008), *The Ancient Indus Valley: New Perspectives*, pp. 129-30.

[14] http://www.harappa.com

Fig. 7 Terracotta dog figurine from Harappa[15]

Fig.8 Terracotta dog figurine from Sanauli[16]

Two dog figures have been found at Lothal (fig. 9&10). One of the miniature figure of dog in copper from Lothal is shown looking sideways with its head raised slightly above the body level. It has a short round body and short legs. The figure is very realistic and even minute details are brought out[17]. The artist has maintained the correct proportions. Another figure is large in size and the animal is represented as looking to front and the body is of stout build[18]. Both of these figurines were found from Lothal period A.

[15] http://www.harappa.com)

[16] D.V. Sharma, (2006), Excavation at Sanauli 2005-06: A Harappan necropolis in the Upper Ganga-Yamuna Doab, *Puratattava* No.36, pp.66-79

[17] S. R. Rao,, (1985), *Op. Cit.*, fig. 117, 4; Pl. CCXLIV B, p.535

[18] Ibid, Pl. CCXKL B, p. 535

Fig. 9 Copper dog figurine from Lothal

Fig. 10 Copper dog figurine from Lothal

According to B. Prashad there were probably two distinct types of dogs domesticated by the Indus people: (1) a type akin to the Pariah and (2) a more highly bred dog allied to the modern mastiff. The only remains of dog from Harappa are of the grey hound type- with an elongated snout[19], mastiff from many sites including Mohenjodaro[20], and the modern Paraih dog from Alamgirpur[21], Lothal[22] and Rojdi[23]. A

[19] B. Prashad, (1936), Animal Remain from Harappa, *Memoirs of Archaeological Survey of India (MOASI),*, No. 51, p. 8 & 25-26.

[20] R. B. S. Sewell, and B. S. Guha, (1931), Zoological Remains, Sir J. Marshall (ed.), *Mohenjodaro and the Indus Civilization*, Vol. 3, pp. 650-52.

brick from Chanhudaro provides interesting evidence regarding a dog chasing a cat. It bears impressions of the paws of the two animals. The deep impression left on the brick when it was still wet suggests pressure resulting from speed; while the overlap of the cat's paw by that of the dog would indicate that the latter was chasing the former[24].

Archaeo-zoological evidences of dog

Faunal studies in India reflecting on domestic species began in the first quarter of 20th century when excavation of sites like Mohenjodaro and Harappa were conducted. The works of these earlier scholars mainly confine to listing of species encountered at the archaeological sites. The association between human hunter and dog would have begun at least 12,000 years ago from the cultural period of the Mesolithic era[25]. During this period human society, world-wide, had a subsistence that was still based on broad spectrum of hunting and the gathering of wild cereals. Settled communities and incipient agriculture were in the beginning, however, in western Asia, clay-lined storage pits have been excavated from Natufian sites in Israel[26].

As bones discovered in the Harappan Civilisation[27] show the people kept various kinds of domestic dogs, presentations of which have been found in copper/bronze, soapstone and especially in terracotta. Mackay also assumed three kinds of dogs domesticated in Mohenjo-Daro: (1) A mastiff-like type with a tightly twisted tail, lop ears, and a short powerful muzzle. (2) A species with a longer face, upright tail and prick ears seen also on archaic Elamite sealings and resembling the present-day pariah dog. (3) A dog with a compact body, curled tail, short legs, large hanging ears and a short head. Mackay thinks that the mastiff-like animals were kept as pets, and in some cases for hunting or as watchdogs, as is suggested by a broken pottery model of a dog with a collar, fastened

[21] B. Nath, and M. K. Biswas, (1969), Animal Remains from Alamgirpur, *India Museum Bulletin,* 4(1), p. 44

[22] B. Nath,and G.V.S. Rao, (1985), Animal Remains from Lothal Excavations, S.R. Rao, (ed.), Lothal: A Harappan Port Town (1955-62), *MOASI*, No. 78, Vol. 2, p. 640

[23] V. Stack-Kane, (1989), Animal Remains from Rojdi, G.L.Possehl and M.H. Raval (eds.), *Harappan Civilization and Rojdi,* p. 183

[24] Mackay, E. J. H., (1943), *Chanhudaro Excavation 1935-36*, New Haven: American Oriental Society, Americal Oriental Series, Vol. 20

[25] J. Clutton-Brock, (1981), *Domesticated Animals from Early Times*, p. 34

[26] J. Cluctton-Brock, (1984), *Dog*, Ian L. Mason (ed.), *Evolution of domesticated animals,* p. 204

[27] S. John Marshall, (1931), *Mohanjodaro and Indus Civilization* Vol. , 3, Arthur Probsthain: London 650–1

by a cord to a post, and reproduced by Marshall[28]. These indicate that there were several different breeds of dogs found during the Harappan period.

Table: 1 Bones of the domestic dog (*canis familiaris*) have been found in many Harappan sites[29].

Harappan Sites	Location/Regions	Bone/teeth identified
Mohenjo-Daro	Indus Valley	Yes
Harappa	Indus Valley	Yes
Kalibangan	Ghaggar Basin	Yes
Rupar	Indus Valley	Yes
Alamgirpur	Ganga-Yamuna Doab	Yes
Rangpur	Gujrat	Yes
Lothal	Gujrat	Yes
Kuntasi	Gujrat	Yes
Surkotada	Gujrat	Yes
Nageshwar	Gujrat	Yes
Rojdi	Gujrat	Yes
Malvan	Gujrat	Yes
Babarkot	Gujrat	Yes
Shikarpur	Gujrat	Yes
Padri	Gujrat	Yes
Vagad	Gujrat	Yes
Zekhada	Gujrat	Yes
Pabumath	Gujrat	Yes
Jaidak	Gujrat	Yes
Farmana	Ghaggar Basin	Yes
Bhagwanpura	Ghaggar Basin	Yes
Bhirrana	Ghaggar Basin	Yes

Several skeletal elements of the dogs including their teeth have been identified at many Harappan sites such as: Mohenjo-Daro, Harappa, Rangpur, Lothal, Jaidak, Surkotada, Kanmer, Shikarpur, Farmana, Bhirrana, Girawad, Mitathal, Kalibangan, and Alamgirpur etc. (see table: 1).

[28] S. John Marshall, (1931), *Op. Cit.,* Plate XCVI, 17

[29] Kumar, Sajjan, (2014), *Domestication of Animals in Harappan Civilisation*, RIP, New Delhi, pp. 109

Use of dogs

The dog became an integral part of the human economic and social system. The dog may have helped in keeping watch over the fields and even at home, and also in the hunting pursuits of Harappan people. Mackay suggests that some of the collars are large enough to be used as protection against attacks by panthers or other dangerous animals, as practiced in the India even this day[30]. So, we can say that the Harappan people may have been used of dogs in various manners such as- watchdogs and guardians of the house, for hunting purpose; they played with dogs, and sometime dog's figurines used for art form purpose. Dogs provide a sense of security for human companions. Dogs were known to be watch animals guarding the settlements and the domestic stock and also their role in the hunting pursuit of man cannot be ruled out.[31] Dogs are important to humans in various kinds of ways. The connection between the two goes back thousands of years.

[30] E. J. H. Mackay, (1937-38), *Further Excavation at Mohenjodaro*, Vol. 2, p. 286

[31] P.K. Thomas, Yoshiyuki Matsushima & Arati Deshpande, (1996), Faunal Remains, M.K. Dhavalikar, M.R. Raval and Y.M. Chitalwala,(eds.), *Kuntasi: A Harappan Emporium on West Coast*, pp. 297-321.

राजतरंगिणी में वर्णित वर्ण एवं जाति व्यवस्था का विश्लेषणात्मक अध्ययन

Dr. Sajjan Kumar
Department of History
University of Delhi, Delhi-07.

राजतरंगिणी कल्हण द्वारा 12वीं शताब्दी के मध्य में रचित एक कविता के रूप में संस्कृत ग्रन्थ है। भारतीय इतिहास-लेखन में कल्हण की राजतरंगिणी पहली प्रामाणिक पुस्तक मानी जाती है। इस संस्कृत ग्रंथ में कल्हण ने भू-वैज्ञानिक युग से लेकर स्वयं अपने काल तक के इतिहास का विवरण आठ तरंगों में किया है।

प्राचीन काल से ही भारतीय समाज मुख्य रूप से चार वर्णों में विभाजित रहा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र कल्हण ने स्वम अपने काल तक भी इन चारों वर्णों को समाज में प्रचलित माना है। कल्हण ने अपनी कृति में इन चारों वर्णों का वर्णन बड़े सजीव तरीके से किया है। उन्होने ब्राह्मण वर्ण के बारे में अधिक उल्लेख किया गया है। राजाओं का उल्लेख क्षत्रिय वर्ण के अन्तर्गत किया गया है।[1] इसके अतिरिक्त कई सन्दर्भ शूद्र और वैश्य वर्णों के बारे में भी मिलते हैं।

प्रासादपालवैश्यस्य गौरीशत्रिदशालये।
भूतेर्हलधो वजो वराहश्चाभवन्सुताः।।[2]

गौरीश के मन्दिर में एक भूतिनामक वैश्य चैकीदार था, तथा उसके तीन पुत्रों के बारे में वर्णन किया गया है। वैश्य भी राज्य के कार्यों में नियुक्त होते थे, वे शस्त्रा धरण करते थे। माश्मीरराज दुर्लभ का प्रतापादित्य की मुख्य रानी नौना वैश्य थी। वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति के बारे में प्रायः दैवीय अथवा परम्परागत सिद्धान्त की मान्यता समाज में स्थापित थी। इस तथ्य की पुष्टि अरब यात्राी अल्बेरुनी के उस कथन से भी होती है जिसमें उसके द्वारा वर्णों की उत्पत्ति के बारे में विवरण किया है कि ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण की उत्पत्ति हुई है हाथ से क्षत्रिय, जाँघ से वैश्य, तथा उसके पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है।[3]

अल्बेरुनी के इस कथन से स्पष्ट है कि समाज की परम्परागत व्यवस्था को बनाए रखने में राजा का बहुत महत्वपूर्ण योगदान रहता था। वह किसी वर्ण को किसी अन्य वर्ण के व्यवसाय और कार्य अपनाने की अनुमति नहीं देता था, अगर कोई उसकी अनुज्ञा के विरुद्ध कार्य करता था, तो उसे दण्डित किया जाता था। धर्मशास्त्रों के

[1] *राजतरंगिणी*, VII-661-63, अनु० रघुनाथ सिंह हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, **1972**, पृ. 172

[2] **वही**, VII-207, **पृ. 61**

[3] **मिश्र, *जयशंकर, ग्यारहवीं सदी का भारत*, भोपाल, 1987, पृ.** 98 **(मूलरूप में ऋग्वेद के दसवें मण्डल में)**

नियम इसी श्रेणी में आते थे। प्रत्येक वर्ण के लिए एक सुनिश्चित व्यवस्था थी, जिसके अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने वर्ण नियमों के अन्तर्गत कर्म करता था। और वर्ण कर्मों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता था। राजा का यह प्रधान कर्तव्य था कि वह वर्णाश्रम धर्म की रक्षा करे।[4]

कल्हण ने चारों वर्णों एवं समाज में जड़ जमा चुकी कई जतियों का उल्लेख अपनी कृति में किया है, जिसका वर्णन निम्न रूप से किया जा सकता है।

ब्राह्मण वर्ण

दसवीं सदी के अरब लेखक अलमसूदी ने लिखा है कि हिन्दूस्तानियों में केवल ब्राह्मण ही सर्वोच्च थे। परवर्ती लेखक अलइदरीसी ने भी ब्राह्मणों को हिन्दुओं में सर्वश्रेष्ठ बताया। नारायण पाल के भागलपुर पत्र में भी राजानक शब्द मिलता है। कल्हण ने एक स्थान पर ब्राह्मण के लिए काक शब्द का प्रयोग किया गया है।[5]

कल्हण ने ब्राह्मणों को राजानक नाम के साथ उल्लेख किया है। जो मुख्यतः कश्मीर के ब्राह्मणों की उपाधि थी। जिसको उन्होंने सर्वोपरि माना है।[6] संकटकालीन स्थिति में ब्राह्मण सैनिक वृत्ति अपना कर शस्त्रा ग्रहण कर सकता था। मध्ययुगीन लेखकों ने भी ब्राह्मणों के लिए क्षत्रिय वर्ण अपनाने का उल्लेख किया है कल्हण ने ऐसे ब्राह्मण सैनिकों का उल्लेख किया है जो युद्ध भूमि में भाग लेते थे। रय्यावट्ट और विजय नामक दो द्विज, पुरोहित, कोष्ठक और सज्जक ये योधा युद्ध में मारे जाने के पश्चात्, यश से उद्दप्ति हो उठे।

द्वौ रय्यावट्टविजयो द्विजौ पौरोगस्तथा।
कोष्ठकः सज्जकाख्यश्च योद्धा युद्दे हता बमुः।।[7]

अनेक ब्राह्मण राज्य सेवा में संलग्न रहते थे। कल्हण ने राजतरंगिणी में कई ऐसे ब्राह्मणों का उल्लेख किया है जिन्होंने राज्य सेवा के उच्च पद प्राप्त किए थे।

कल्हण ने लिखा है कि शिवस्थ नामक ब्राह्मण शिवरात्रि के शुभ अवसर पर राज्य के सभी विभागों का अध्यक्ष बना दिया गया।

शिक्रात्रायुत्सवे श्लोकममुं शिवथाभिध्ः।
विद्वान्यठस्तेन हठात्सवध्यिक्षो व्यद्धीयत।।[8]

---

[4] मिश्र, जयशंकर, *प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास*, पटना, **1974**, पृ. 102

[5] *राजतरंगिणी*, VII-1311, पृ. 328

[6] मिश्र, जयशंकर, *पूर्वोक्त*, **1974** पृ. 103

[7] *राजतरंगिणी*, VII-1480, पृ. 366

[8] *राजतरंगिणी*, VIII-3, पृ. 20

कुछ ब्राह्मण मंत्री पद तक पहुँचते थे। कल्हण ने एक ब्राह्मण पार्थ का उल्लेख किया है जो दुष्ट बुद्धि का मनुष्य था। इस पाप कर्म के लिए वह विख्यात था तो भी राजा ने उसे नगर का अधिकारी बना दिया।

पार्थः परमदुर्मेधः ख्यातो भ्रातृकलत्रागः।
निर्विचारेण यत्रोन नगराधिकृतः कृतः।।[9]

ब्राह्मण जाति को समाज में अधिक सम्मान प्राप्त था और ब्राह्मणों के द्वारा अन्य कई प्रकार के व्यवसाय भी अपनाए जाते थे। कल्हण ने मित्रास्मण नामक ब्राह्मण को राजा ललितादित्य का परामर्श मंत्री बताया है जो विभिन्न प्रकार की स्थितियों में राजा को परामर्श देता है।

श्रीयशोवर्मणः सधै सांध्विविग्रहिको न यत् ।
नयं नियमनालेख मित्राशर्माडस्य चक्षमे।।[10]

स्वयं कल्हण का पिता चम्पक जो राजा हर्षदेव के द्वारपति थे और वे युद्द में प्रस्थान करना चाहते थे।

वातगण्डं तदुधेगे प्रतिष्ठासुं नृपाज्ञया।
चण्पको द्वारकार्यस्थमभिसधतुमैहत।।[11]

अज्जक नाम का ब्राह्मण जो राजा सलह का मंत्री था जब वह सुसला के विरुद्द युद्द लड़ रहा था तब युद्द में वह वीरगति को प्राप्त हो गया।

सचिवः सल्हराज्यस्य पतगणमजो द्विजः।
आजौ प्रापाज्जको नाम स्वः स्त्रीसंभेगभागिताम।।[12]

बहुत से ब्राह्मणों ने सैनिक व्यवसाय अपना लिया था और राज्य की राजनीति में हिस्सा लेने लगे थे अर्थात् राज के बड़ेबड़े अधिकारियों के रूप में नियुक्त किए गए। लेकिन बहुमत उन ब्राह्मणों का दिखता है जो अपने जीवन का निर्वाह धार्मिक कार्यों के द्वारा ही कर रहे थे। जैसे पुरोहितों के रूप में सेवा करके अथवा पवित्र किताबों को पढ़कर।[13] ओवन ग्राम में उत्पन्न हुआ एक लौष्ठक नाम वाला ग्राम देवज्ञ ब्राह्मण था जो लोगों से एक-एक मुट्ठी की भीख मांगकर अपने जीवन का निर्वाह करता था। यह लौष्ठक नामक ब्राह्मण वहाँ के लोगों का आज्ञा पालक था।

भिक्षको धन्यमुष्टीनामोवनाग्रामजो द्विजः।
योप्यभूद्वामदैवज्ञो वैध्द्दयो लोष्ठकाभिध् ः।।[14]

---

[9] *राजतरंगिणी*, VIII-107, **पृ.** 28

[10] *राजतरंगिणी*, IV-137, **पृ.** 77

[11] *राजतरंगिणी*, VII-1177, **पृ. 294**

[12] *राजतरंगिणी*, VIII-472, **पृ. 86**

[13] *राजतरंगिणी*, IV-5, **पृ. 8**; V-16-17, **पृ. 327-28**

[14] *राजतरंगिणी*, VII-295, **पृ. 86**

अल्बेरुनी लिखते हैं कि उन लोगों (राजाओं और सामन्तों) के घरों में सर्वदा एक ब्राह्मण होता था, जो वहाँ धर्म और पुण्य के कार्य करता था जिन्हें पुरोहित कहा जाता था। ऐसे बड़े लोगों के यहाँ धर्म और पुण्य कराने से पुरोहितों को दान और उपहार मिलते थे जिससे वे आजीविका चलाते थे। कल्हण ने उल्लेख किया है कि अग्रहार राजाओं के द्वारा ब्राह्मणों को दान दिए गए।[15] मन्दिरों को राजाओं और सामन्तों द्वारा दान दिया गया था जिन मन्दिरों में पुजारियों के रूप में ब्राह्मण रहते थे। मन्दिरों में दान की आय से इन पुजारियों का जीवन-निर्वाह चलता था। ऐसे ब्राह्मणों को देवलक के नाम से जाना जाता था।

क्षत्रिय वर्ण

भारतीय समाज में क्षत्रियों का स्थान ब्राह्मणों के बाद आता था किन्तु उनका मान और महत्व ब्राह्मणों से कम ही आकां जाता था। पूर्व मध्ययुगीन विदेशी लेखकों और प्राचीन भारतीय शास्त्राकारों ने भी क्षत्रियों के शौर्य, शासन कौशल, युद्द प्रवृत्ति आदि की चर्चा की है। पूर्व मध्यकाल में क्षत्रिय वर्ण का लुप्त होना और उनके स्थान पर नए वर्ग के रूप में राजपूत विकसित होना एक महत्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। 12वीं शताब्दी में राजपूत शासन तथा उच्च सैनिक पदों पर आसीन थे। इस काल से पूर्व लोग राजपूत शब्द से अपरिचित थें । इस बात पर विद्वानों में गहरा मतभेद है। सभी एकमत नहीं हो सके हैं कि राजपूत लोग प्राचीन क्षत्रिय वर्ण के वंशज थे या नहीं। अधिकतर पश्चिमी विद्वान् यह कहते आए हैं कि मध्यकाल से पूर्व जो शक तथा हूण जातियाँ बाहर से आई और हिन्दू धर्म में मिल गईं, उन्हीं को शुद्ध करके राजपूत बनाया गया था। विदेशी हूण आदि सरदारों से उच्च राजपूतवंशों की उत्पत्ति हुई।

कल्हण ने छत्तीस राजपूत कुलों का वर्णन अपनी कृति में किया।

प्रख्यापयतः संभूति षटत्रिंशति कुलेषु ये।
तेजस्विनो भास्वतोपि सहन्ते नौच्चकैः स्थितिम् ।।[16]

अल्बेरूनी लिखता है कि दूसरा वर्ण क्षत्रिय है और जैसा वे चाहते हैं, वे ब्रह्मा के कन्धें और हाथों से उत्पन्न हुए थे। उनका पद भी ब्राह्मण से किसी प्रकार से कम नहीं था।52 यह सत्य है कि क्षत्रियों की प्रतिष्ठा सर्वप्रियता ब्राह्मणों से किसी प्रकार कम नहीं थी। वे समाज में अत्यंत गरिमामंडित थे।

समाज में क्षत्रिय कर्म निश्चय ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। प्रजा की रक्षा करना, वेद पढ़ना, दान देना, यज्ञ करना आदि उसका प्रधन कर्म था। हस्ति और अश्व की शिक्षा में वह निपुण था। अल्बेरूनी के अनुसार क्षत्रिय वेद पढ़ता था, पढ़ाता नहीं था।

[15] ***राजतरंगिणी***, V-442, **पृ. 471**; VI-89, **पृ. 524**

[16] ***राजतरंगिणी***, VIII-1617, **पृ. 395**

वह यज्ञ करता था और पुराणों के अनुरूप आचरण करता था। वह प्रजा पर शासन करता और उसकी रक्षा करता था, क्योंकि वह इसी निमित उत्पन्न हुआ था।

वर्ण के कर्म के अनुसार दण्ड की भी व्यवस्था की गई थी। ब्राह्मणों को सबसे कम तथा शूद्रों को सबसे अधिक और कठोर दण्ड दिया जाता था। अल्बेरूनी लिखते हैं कि चोरी के अपराध् में क्षत्रियों को बिना अन्धा किए ही उसका अंग काट देते थे। वे उसका बायां पैर और दायां हाथ या दाया पैर या बायां हाथ काटते थे। अन्य निम्न वर्णों को वे चोरी के अपराध में प्राण दण्ड देते थे। पूर्वमध्यकाल में सामंत क्षत्रियों के साथ रावत तथा ठाकुर शब्द का प्रयोग किया।

अतः इस प्रकार क्षत्रिय वर्ण का समाज के विकास में निश्चित ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण योगदान था और ब्राह्मण वर्ण के समतुल्य उन्हें भी समाज में सम्मान मिलता था।

वैश्य वर्ण

वैश्य वर्ण का समाज में क्षत्रियों के बाद तीसरा स्थान था। समाज में व्यापार और कृषि का समस्त भार इनके ऊपर था। राज्य और देश की आर्थिक स्थिति उसी के सत्यप्रयास से सुदृढ़ होती थी। पूर्वमध्ययुगीन लेखक अल्बेरूनी ने वैश्यों को शूद्रों की श्रेणी में ही स्वीकार किया है। उन्होने लिखा है कि वेद पढ़ने पर दोनों को एक ही तरह का दण्ड दिया जाता था। अल्बेरूनी के अनुसार दोनों एक ही गाँव और नगर में बसते थे।[17] कालान्तर में वैश्य और शूद्र में अधिक अन्तर नहीं रह गया था। वैश्य निश्चित रूप से शूद्र की स्थिति तक पहुँच गए थे।[18]

पूर्वमध्यकाल तक आते-आते वैश्यों के कार्यों में कुछ कमी आई। वैश्यों का धर्म है खेती करे, भूमि को जोते, पशु पाले और ब्राह्मणों की आवश्यकता को पूरा करें। दान देना और यज्ञ कराना, ब्राह्मणों की आवश्यकत पूरी करने के अन्तर्गत आ जाते हैं। अल्बेरूनी के पूर्व नवीं सदी के अन्त में होने वाला अरबी लेखक इब्न खुर्दाज्बा वैश्यों को केवल कारीगर होने और घर-गृहस्थी के काम करने वाले बताता है। अल्बेरूनी के परवर्ती ग्यारहवीं सदी के अन्त में होने वाले अलइदरीसी ने भी वैश्यों को कला-कौशल में निपुण, कारीगर और मिस्त्री आदि बताया है।[19] अतः स्पष्ट है कि बारहवीं सदी तक आते-आते वैश्यों के व्यवसायों में काफी परिवर्तन हो गया था। वेद आदि का अध्ययन

[17] मिश्र, जयशंकर, *पूर्वोक्त*, **1974** पृ. 117

[18] घुर्ये, जी. एस., *कास्ट एण्ड क्लाश इन इंडिया*, बंबई, **1950**, पृ. 57, 64, 88, 96

[19] मिश्र, जयशंकर, *पूर्वोक्त*, **1974**, पृ. 117-119

करना उनसे छूट गया। प्राचीन शास्त्राकारों ने कहा भी है कि अध्ययन और व्यापार का कोई संबंध् नहीं। कालान्तर में वैश्यों ने अपने को पूर्ण रूप से व्यावसायिक कार्यों में संलग्न कर लिया। बौद्दिक और अध्यात्मिक पक्ष का उनके मन और मस्तिष्क से पूर्णतः लोप हो गया।

पूर्व मध्य युग में उनकी स्थिति यह थी कि वेदों का अध्ययन करना तो उनसे पहले ही छूट गया था। वेदाध्ययन करने पर कठोर दण्ड दिया जाता था। इस संबंध् में अल्बेरूनी लिखता है कि, यह सि(हो जाए कि वैश्य या शूद्र ने वेद उच्चरित किया है तब राजा के सम्मुख ब्राह्मण उस पर आरोप लगाता था और राजा उसकी जीभ काट लेने का आदेश देता था। किन्तु वैश्यों के लिए कोई ऐसी कठोर व्यवस्था नहीं थी। शूद्रों के लिए तो सदा से वेदाध्ययन न करने का विधन किया गया था। किन्तु वैश्यों को वेद पढ़ने का अध्किार प्राचीन काल से प्राप्त था। वैश्यों के संबंध् में अल्बेरूनी का उक्त कथन उनकी अवनति का अवश्य परिचायक है। पूर्व मध्य युग में उनका महत्व घट गया था और वे शूद्र के स्तर तक आ गये थे, यह बात मानी जा सकती है किन्तु भारतीय ग्राम विभिन्न जाति के लोगों के आवास से सर्वथा पूर्ण होते थे। ग्राम की आवश्यकता की पूर्ति करने वाले सभी व्यवसायों के लोग उसमें निवास करते थें जिसमें केवल वैश्य एवं शूद्र ही नहीं ब्राह्मण और क्षत्रिय भी शामिल थे।

शूद्र वर्ण

शूद्र की समाज में स्थिति अत्यंत हेय और दयनीय थी। द्विजातियों की सेवा कार्य का भार उसके ऊपर था और वह पूर्णरूपेण अपनी आजीविका के लिए उन पर निर्भर रहता था। वस्तुतः उसका प्रमुख कर्म द्विजातियों की सेवा करना ही था। उसे दास या अनार्य या कृष्ण वर्ण आदि नामो से संबोध्ति किया जाता था। अधिकार और कर्तव्य की दृष्टि से समाज में वह अत्यंत उपेक्षित तथा निम्न था। न उसे वेद पढ़ने का अधिकार था और न ही यज्ञ करने का।

अल्बेरूनी लिखते हैं कि शूद्र, ब्राह्मण के सेवक की तरह हैं, जो उनके कार्य व्यापार की देख-भाल और सेवा करता है। प्रत्येक ऐसा कार्य जो ब्राह्मण का विशेषाधिकार समझा जाता है, वेद पढ़ना और यज्ञ करना शूद्र के लिए वर्जित है। अगर वह ऐसा करता है तो ब्राह्मण राजा के सम्मुख उस पर आरोप लगाता है और राजा उसकी जीभ काट डालने की आज्ञा देता है इस प्रकार ईश्वर-पूजा धर्मिक कार्य और दान करना उसके लिए वर्जित है।[20]

[20] **मिश्र, जयशंकर**, *पूर्वोक्त*, **1974**, पृ. 119

कल्हण ने अपनी कृति में अनेक शूद्र जातियों का वर्णन किया है जिनका मुख्य व्यवसाय नाव चलाना मछली, पकड़ना व शिकार करना आदि निम्न कार्य थे। कल्हण ने एक निषाद निम्न या शूद्र जाति का वर्णन किया है जो नाव चलाने का कार्य करती है।

दृश्यन्तेऽधपि सरितां पूर्वस्श्रोतस्तटो(वाः।
निषादाकृष्टनौरज्जुखांडा जीर्णपादपाः।।[21]

एक अन्य स्थान पर कल्हण ने घुमन्तू डोम्ब जाति का उल्लेख किया है जो शिकार का कार्य करती थी तथा यह जाति अपने कुत्तों के साथ निरन्तर घूमती रहती थी।

तं वृतं वागुरावाहिडोम्बाटविककपेटकैः।
पर्यटन्तं श्वभिः साधर््मपश्यन्सततं जनाः।।[22]62

वस्तुतः कृषि कार्य श्रम और सेवा से संबंधित रहा है। उसे सम्पन करने में परिश्रम की आवश्यकता पड़ती थी। यह परिश्रम शूद्रों से कराया जाता था। जोतने-बोने का समस्त परिश्रमयुक्त कार्य शूद्र ही करते थें इसलिए अनेक लेखकों ने यह समझ लिया कि शूद्र का कर्म कृषि कार्य से संबंधित ही था । प्रायः कृषि कार्य दास-वर्ग से संपन्न कराया जाता था। 11वीं शताब्दी में अल्बेरूनी ने उत्तर भारत की निम्न जातियों में एक खास समुदाय देखा था जिनको बद्धरौ के नाम से पुकारा जाता था ये लोग कुत्ते का मांस खाते थे।[23] अतः पूर्वमध्य युग में शूद्रों का प्रधान कार्य अपने उच्च वर्णों की सेवा करना ही था। प्राचीन काल की तरह ब्राह्मणों की सेवा करना उनका प्रधान कर्म था।

जाति व्यवस्था

प्राचीन भारत के लोग विभिन्न जातियों में बंटे हुए थे। वर्णात्मक और धार्मिक कार्यों के ऊपर या सामाजिक तथा आर्थिक मंच पर कई प्रकारों में बाँटा जा सकता था अर्थात उनके द्वारा अपनाए गए व्यवसायों के आधार पर। कल्हण ने ब्राह्मण वर्ण के साथ-साथ निम्न जातियों में अस्पृश्य जातियों का भी वर्णन किया है।

पूर्व मध्यकाल में अस्पृश्यता के दायरे में असत और सत शूद्र तथा समस्त शूद्र समुदाय आ गया था। शूद्र के स्पर्श होने पर यदि स्नान में असमर्थ हों तो आचमन का निर्देश दिया गया। सच्छूद्र का स्पर्श होने पर आचमन और अच्छूद्र का स्पर्श होने पर स्नान का निर्देश दिया गया। इस काल में अस्पृश्यता के विकास का प्रमुख कारण

---

[21] *राजतरंगिणी*, V-101, पृ. **362**

[22] *राजतरंगिणी*, VI-182, पृ. **558**

[23] सचाऊ, ई. सी., *अल्बेरूनी इंडिया*, दिल्ली, **1964**, पृ. 102

वाममार्गी विचारधरा का विकास था इस विचारधरा से प्रभावित धर्मिक सम्प्रदाय अस्पृश्य कहे गए।[24]

काणे महोदय ने सोलह अस्पृश्य जातियों का उल्लेख किया है जिनमें रज्जक, चर्मकार, नट, बरूड, कैवर्त, भेद, भल, स्वर्णकार सैनिक, कारक, लोहकार, शिलाभेदी, नापित, तक्षक, चक्री व ध्वजी थी। इनको स्पर्श करने और बोलने तथा देखने के मामलों में चण्डाल के बराबर बताया।[25] कल्हण ने चार मुख्य वर्णों के अतिरिक्त 64 जातियों के बारे में बताया है जो राजा जयसिहँ 1128-49 ई. के काल के दौरान थी।

राजा का एक पवित्र ब्राह्मण मन्त्री यह देखकर आश्चर्यचकित रह गया कि जब 64 जातियों को एक साथ विशेष रीति भोज खिलाया जा रहा था।

भोगान्बुजुजिरे भव्यान्सत्रो सूत्रितविस्मये।
यस्य वर्णाश्चतुः पष्टि कुट्टष्टयस्षृष्टचेतसः।।[26]

कल्हण ने निषाद नाम की जाति का उल्लेख किया है जो एक वास्तिक जनजाति दिखाई देती है समाज में उनका बहुत निम्न स्थान था । निषादों को शिकार तथा मच्छली पकड़ने वाला बताया गया है। राजतरंगिणी में इसका उल्लेख किया गया है।

दृश्यन्तेडधपि सरितां पूर्वस्श्रोतस्यटो(म्वाः।
निषादाकृष्टनौरज्जुरेखांडा जीर्णपादयाः।।[27]

इस जाति का मुख्य पेशा शिकार, मच्छली तथा नाव चलाना था। कश्मीरी भाषा में उन्हें हांजी कहते थे। भारत के अन्य स्थानों पर इसे मांझी, मल्लाह अथवा मच्छुवा कहते थे। समाज में उनका स्थान कृषकों से भी निम्न था। हांजी नाव के अतिरिक्त मछली मारने का भी काम करते थे।

कल्हण ने एक अन्य जाति किरात के बारे में उल्लेख किया है कि वह जंगलों में निवास करती है और जंगली जानवरों को मारकर अपने जीवन का निर्वाह करती है और वनों में आग लगाकर अपना शिकार मंच बनाती है।

दादोद्दीपनकूटयन्त्राघटनैः सिंहादिंसहारिणो।
यान्त्याकस्मिकगण्डशैलपतनैनन्त किराता वने।
एकेनैव ननु प्रधवति जनः सर्वोडपि मृत्योः पथा।

---

[24] पान्थरी, राघवेन्द्र, *प्राचीन भारत में सामाजिक परिवर्तन*, पृ. 91

[25] काणे, पी. वी., *धर्म शास्त्र का इतिहास*, **1970**, पृ. 1072-73

[26] *राजतरंगिणी*, VIII-2407, **पृ. 453**

[27] *राजतरंगिणी*, V-101, **पृ. 362**

हन्ताहं निहतोडयमेष तु मितं कालं विभेदग्रहः।।[28]

कल्हण ने डोम्ब जाति को स्वतंत्र रूप से जीवन व्यतीत करने वाली जाति बताया है लेकिन कई अन्य स्थानों पर इस जाति को चाण्डाल जाति के साथ जोड़ा गया है अर्थात् इसके समान कहा गया है।

डोम्बचण्डालसंस्पृष्टभूपसपर्कदूषितान।
दग्ध्वा महागृहान्क्द्धिर्भुवः शुद्धिमिविाकरोत।[29]

वास्तविक रूप में डोम्ब जाति का व्यवसाय क्या था इस बारे में हम अनभिज्ञ हैं लेकिन राजतरंगिणी में एक अन्य स्थान पर उन्हें शिकारी के रूप में दर्शाया गया है। कल्हण बताता है कि डोम्ब के द्वारा अनेक कहानियाँ बनाई गई थीं। ऐसा लगता है कि डोम्ब बहुत अच्छे संगीतकार थे और अपना जीवन नाचने व गाने में व्यतीत करते थे।[30]

कल्हण ने एक अन्य दूसरी जाति चण्डाल का उल्लेख किया है। इन्हें बहुत ही उग्र तथा निर्दयी रूप में जाना गया है जो एक निम्न जाति थी। कुछ चण्डाल राजा के रक्षक बनकर सेवा भी करते थे। राजा के अंगरक्षक बनकर बहुसंख्यक चण्डाल हाथों में तलवार लिए सुरक्षा के लिए उसके साथ रहते थे।

प्रविशन्तमघावंस्तं भषद्दी सूचितं श्रभिः।
घृतासयो ग्रहद्वारं चण्डालश्चैरशंगिता।[31]

नौवीं सदी तक कायस्थ एक जाति के रूप में सामने आ गए थे और उन्हें निम्न दर्जा दिया गया था और कहा गया था कि वे ब्राह्मण और शूद्र के मिश्रण से उत्पन्न हुए हैं।[32] ग्यारहवीं सदी तक यह जाति इतनी फैल चुकी थी कि इसे अपने वर्ण के लिए स्थानीय नामों को अपनाना पड़ा जैसे पूर्वी भारत के गौड़ कायस्थ या पश्चिम का वालभ्य कायस्थ वंश। उनमें कुछ बड़े-बड़े पदों पर आसीन हो गए थे । भूमिदान प्राप्त किए गहड़वालों तथा चंदेलों के अधीन मातहत शासकों का दर्जा हासिल किया और धर्म का संरक्षण दिया। उनके निम्न कर्मकाण्डी दर्जे के कारण ब्राह्मण उन्हें हेय दृष्टि से देखते थे लेकिन साथ ही उनसे डरते भी थे। क्योंकि ग्यारहवीं सदी तक उन्होंने देश के कुछ भागों में काफी संपत्ति और राजनीतिक सत्ता भी प्राप्त कर ली थी। कल्हण ने अपनी कृति में कायस्थों का उल्लेख किया है।

डामरैर्लण्डितो देशः प्रणाशे चक्रवर्मणः।

---

[28] *राजतरंगिणी*, VIII-358, **पृ. 66**

[29] *राजतरंगिणी*, VIII-192, **पृ. 565**

[30] *राजतरंगिणी*, V-354-96, **पृ. 459-70**

[31] *राजतरंगिणी*, VII-309, **पृ. 90**

[32] **थापर**, *रोमिला, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास*, **पृ.** 120

उत्थाप्य पापान्कास्थांस्तेन भूयोऽपि दण्डितः।।[33]
तदन्तरे शिवरथो द्विजः प्रचुरचक्रिकः।
कायस्थपाशः पाशेन गलं बद्ध्वा व्यपद्यत।।[34]

कल्हण के उपरोक्त पद्य से स्पष्ट होता है कि कायस्थ कोई जाति नहीं बल्कि कर्म स्थान अर्थात् राजकीय सेवावृत्ति थी। काणेने ऐसा माना है कि नवीं सदी से उनका उल्लेख कायस्थ जाति के रूप में होने लगा।

कल्हण ने एक अन्य जाति के बारे में उल्लेख किया है जो वहाँ की एक मुख्य जाति थी और इस जाति के लोग जमीन से जुड़े हुए थे। इस जाति को कल्हण ने डामर कहा है। इस डामर जाति के बारे में विल्सन का विचार है कि यह कश्मीर की एक क्रूर जाति थी जो कश्मीर के पहाड़ी क्षेत्रों पर रहती थी।

कल्हण ने राजतरंगिणी में बताया है कि निश्चित रूप से डामर एक जन-जाति नहीं थी ये उत्तर भारत के पहाड़ों पर रहती थी और यह जाति आक्रमणकारी नहीं थी बल्कि वे समीपवर्ती जमीन के मालिक थे। राजा ललितादित्य के द्वारा कहा गया है कि उत्तराधिकारी के रूप में जो डामर जमीन जोतते आ रहे थे अगर उनके इस उत्तराधिकार नियम को नहीं तोड़ा तो ये लोग अधिक धन कमा लेंगे और बहुत शक्तिशाली बन जाएँगे और राजा की आज्ञा का पालन नहीं करेंगे।

अधिकीभूतवित्ता ही वत्सरेणैव ते भृशम्।
भवेयुर्डमराः क्रूरा नृपाज्ञातिक्रमक्षमाः।।[35]

यद्यपि डामर देश के रूप में वर्णित किया गया है परन्तु कश्मीर के डामरों की कुछ विशेष अवस्था थी। कश्मीर में डामर भूमि स्वामी, जमींदार, और सामंत सरदार थे। ग्रामीण अर्थात् भूमि पर निर्वाह करने वालों का यह कुलीन वर्ग था। ये राजपुत्रों के स्तर के नहीं थे परन्तु विवाह संबंधी राजवंश में होता था कोई भी वह व्यक्ति डामर हो सकता था, जो अपने को सफल कृषक प्रमाणित कर देता था। कल्हण ने उल्लेख किया है कि जब राजा अवन्ति वर्मा भूतेश्वर देवस्थान मन्दिर गये तो उसे मालूम हुआ कि धन्वा नामक डामर ने मन्दिर के अग्रहार पर अधिकार कर लिया है।[36] 10वीं शताब्दी के मध्य तक डामर बहुत शक्तिशाली बन गए थे और उन्होंने शाही कामकाज में हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया था जब राजा चक्रवर्मन को राज्य से निकाल दिया गया तब राजा ने संग्राम नामक डामर के घर जाकर शरण ली और उन्होंने अन्य डामरों की

[33] *राजतरंगिणी*, V-339, पृ. **481**
[34] *राजतरंगिणी*, VIII-2383, पृ. **446**
[35] *राजतरंगिणी*, IV-348, पृ. **162**
[36] *राजतरंगिणी*, V-48, पृ. **345**

सहायता से अपने शासन को प्राप्त किया।[37] कल्हण ने उल्लेख किया है कि डामरों की बढ़ती हुई शक्ति को दबाने के लिए राजा सिंह विक्रमी तुंग ने डामर ग्राम समूह का संहार किया।

प्रविशन्नगंर तुंगस्तत स्वीकृतकम्पन।
चकार डामरग्रामसंहार सिंहाविक्रम।।[38]

कल्हण ने एक अन्य डामर जय्यक की उन्नति और उसकी समृद्दशाली होने का वर्णन किया है।

तनयो नयनाख्यस्य कल्यः सेल्यपुरौकसः।
कुटुम्बिनो जय्यकाख्य क्रमाद्दामरतामगात् ।।[39]

जय्यक नाम का डामर एक बहुत बड़ा व्यापारी भी था जो विभिन्न दिशाओं और देशों में अन्न का विक्रय करता था और जिससे उसको बहुत मोटी धन राशि प्राप्त होती थी।

राजतरंगिणी से पता चलता है कि डामर 8वीं शताब्दी से पहले अस्तित्व में नहीं आए थे। उनकी शक्ति और प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ा लेकिन 10वीं सदी तक भी इनका कोई खास महत्व नहीं था लेकिन कालान्तर में ये बहुत शक्तिशाली बनते चले गए।

अतः निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत चातुर्वर्ण का विकास देश, काल और परिस्थिति के कारण जटिल होता गया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र प्राचीन काल से लेकर बारहवीं सदी तक विभिन्न परिवर्तनों तथा परिस्थितियों से होकर अपने अस्तित्व में बने रहे। समाज में शूद्र वर्ण का स्थान अत्यंत निम्न था जो अपने से उच्च वर्ग की सेवा करते थे। पूर्व मध्य युग में अनेक जातियाँ समाज में व्याप्त थीं। कल्हण ने समाज की कुछ निम्न जातियों का उल्लेख किया है जो अपने से उच्च वर्ण की सेवा में लगे रहते थे। जिन्हें उच्च वर्ण के लोग हेय दृष्टि से देखते थे। लेकिन कल्हण ने देश की उन निम्न जातियों का भी उल्लेख किया है जिन्होंने राजा के नजदीक आकर अथवा उनका सेवक बनकर प्रशासन के उच्च पद प्राप्त किए।

[37] ***राजतरंगिणी***, V-306-8, **पृ. 446-47**
[38] ***राजतरंगिणी***, VI-354, **पृ. 612**
[39] ***राजतरंगिणी***, VII-494, **पृ. 133**

Like Share 167 people like this. Sign Up to see what your friends like.

August 6, 2019 Tuesday

Inclusive

~ AN INTERNATIONAL JOURNAL OF KOLKATA CENTRE FOR CONTEMPORARY STUDIES (KCCS) ~

Inclusive: Special Article: Vol. 1, Issue 15 - July, 2019

Some Aspects of the Rights and Laws of Disabled Persons in India Since Independence

Vikas Gupta

I. Introduction[1]

In this paper, I will present a brief historical survey of the growth of the recognition of the rights of persons with disabilities within Indian legal system. I will identify different sources of the recognition of their rights, such as the Indian Constitution, administrative orders, juridical verdicts, parliamentary enactments and international conventions. Besides such legal documents forming the sources of this paper, I will also use some secondary literature to make specific arguments. In addition, the paper will also draw upon the voices from within the disability sector wherein I have enjoyed first hand access. The survey would bring out an unmistakable expansion of the recognition of their rights,however, it is in no way a simple, straightforward progressive journey. At times, things have become even more complicated and challenging with the growth of the corpus of legal documents on the rights of persons with disabilities. Moreover, there are some burning questions, which were raised before the most recent enactment in 2016, which are still to be addressed.

However, in order to get a proper sense of the plight of persons with disabilities in terms of the enjoyment of equal citizenship, it is requisite to have some idea of their proportion in the total population for which these laws should be applied. Presently, owing to the differences of approach, there exist significant dissimilarities amongst various agencies and scholars in terms of their estimates for the prevalence of disability in India and participation of disabled children in formal education. In this section, I have argued that if we amend our perception and definition of disability in accordance with the internationally upheld perspective, it may considerably modify our understanding of the extent or rate of disability prevalence in India as well. This may also help us to understand afresh the participation or exclusion of disabled persons in public life and encourage us to modify our understanding of the reasons possibly responsible for keeping a large number of them out of it. We will discuss formal education as an example of the larger public sphere in different sections of this paper to show the problems faced by persons with disabilities in achieving equal status and participation.

Although the colonial census enumerated disabled persons from 1872 to 1931, the practice was discontinued thereafter.It was however revived in 1981—the first year of the international decade for disabled—but again dropped in 1991 census owing to the perception of the failure to accumulate proper information.[2] However, thanks to the successful pressure exerted by disability rights groups, the Government agreed, albeit in the last minute, to enumerate disabled persons in the Census of 2001, which recorded 2.12 percent disability prevalence rate.[3] According to this census, only 25.19 percent disabled persons lived in urban and 74.80 percent in the rural areas. It found that there were more disabled men as compared with disabled women (57.54 % against 42.45 %).

Third Disability Survey of NSSO (58 th round July-December 2002) reported even a lower figure of disability prevalence. According to this survey, 1.8 percent of total population had some or other kind of disability.[4] The NSSO survey also documented that about 10.63 per cent of the disabled persons suffered from more than one type of disabilities.

At the same time, it is also true that the third disability survey of NSSO (2002) has recorded higher disability prevalence than the previous two surveys.[5] Similarly, the census of India (2001) has also recorded higher disability prevalence if compared with the past reports.For instance, as distinct from the census of 2001, which has recorded 2.12 percent disability prevalence rate in India, the census of 1931 had recorded only 0.31 percent disability prevalence and the 1981 census recorded even a lower rate of 0.2 percent.[6] Yet, if compared with many developed and some developing nations, the disability prevalence rate as recorded by the Indian census of 2001 appears to be considerably lower, such as USA (20 percent), UK (12 percent), Brazil (14.5 percent), Turkey (12.3 percent), and Nicaragua (10.1 percent).[7]

We can identify various possible reasons of this low recording of disability prevalence rate in India. For instance, it is

OLD ISSUES

- Jan 2019 - Vol. 1, Issue 14
- Jul 2018 - Vol. 1, Issue 13
- Jan 2018 - Vol. 1, Issue 12
- Jan-Jul 2017 - Vol. 1, Issue 10-11
- Jul 2016 - Vol. 1, Issue 9
- Jan 2016 - Vol. 1, Issue 8
- Jul 2015 - Vol. 1, Issue 7
- Jan 2015 – Vol. 1, Issue 6
- Jul 2014 – Vol. 1, Issue 5
- Jan 2014 – Vol. 1, Issue 4
- Jul 2013 – Vol. 1, Issue 3
- Dec 2012 – Vol. 1, Issue 2
- Apr 2012 – Vol. 1, Issue 1

SECTIONS

- Editorials
- Perspectives
- Book Review
- Commentary
- Special Articles

We can identify various possible reasons of this low recording of disability prevalence rate in India. For instance, it is possible that owing to the influence of the prevalent male perceptions of attractive female body, wherein disability becomes a kind of ignominy, and which thereby determines women's marital prospects, lesser number of people would have reported instances of the prevalence of physical impairments amongst women. Perhaps because of this low reporting of female disability that contrary to the global trend,[8]the census of India (2001) recorded lower disability prevalence rate amongst women than men (0.90 % and 1.22 % respectively). Secondly, Government carried out the enumeration without adequately sensitizing the enumerators and surveyors about disability implying "difficulty in functioning","activity limitation" or "participation restriction".[9] Further, it did not make sufficient prior efforts to create necessary awareness amongst respondents so that they do not hide relevant information and understand accurately what kinds of restrictions may be called disability. In India, the general perception of disability still revolves around obsolete medical criterion of the degree of physical impairment–a parameter already discredited by various nations and international agencies and scholars owing to its inherent limitations. In other words, it has been recognized that impairment data is not an adequate proxy for disability information.[10] Therefore, countries reporting higher disability prevalence tend to collect their data through surveys and apply a measurement approach that records activity limitations and participation restrictions in addition to impairments.[11]

Dr. E. Helander, then working for World Health Organization (WHO) had estimated in 1974 that 10 per cent of the world population was disabled.[12] Since then, WHO has been suggesting that about ten percent global population suffers from some or other kind of disability.[13] In its recent report published in 2011, WHO has increased this global estimate to 15 percent. WHO does not treat disability merely as impairment, instead as a "difficulty in functioning", "participation restriction", or "activity limitation".[14] It has been further suggested by Dr. Helander (in his later book, Prejudice and Dignity), that even if we follow the WHO approach but minus the number of those disabled not requiring special rehabilitative support, then also the percentage of disabled population will be more than five percent of the total population.[15]

In India, according to R.S. Pandey and Lal Advani, about four per cent of the population can be said to be having 'obvious' disability of moderate, severe and profound degree. They suggest that if we also count the milder forms of disabilities, the number may well be around 20 per cent or so.[16]

Hence, it should be apparent from the above discussion that a very important factor determining our understanding of participation/exclusion of disabled children in formal education—the subject matter of the next section—would depend on how do we conceptualize and enumerate disability and measure its prevalence. For instance, as distinct from the above-cited official figures of disability prevalence in India amongst the school-going age group, roughly little less than 2 percent of the total population, Mukhopadhyay and Mani estimate 5 percent children with disability in the age group 5-14.[17] Further, if we adopt internationally accepted definition and approach, the reporting of disability prevalence amongst children may increase manifold. For example, according to Cry, one out of every ten children in India is disabled.[18]

I found similar results in a survey (yet to be published) which I conducted in 2011 amongst the students enrolled in 10 th, 11 th, and 12 th classes in the schools of the Directorate of Education in Delhi, where otherwise our objective was to study the cultural understanding of children and the nature of their peer group interaction. In this study, following the international approach of broadly defining disability, we also asked them if they face any physical impairments including enduring pain and ailment (if at all) which cause difficulties in their normal participation in the school on more or less regular basis? Out of the total students randomly selected for this sample, as per our preliminary calculations, 11.81 percent respondents clearly reported various kinds of physical impairments causing "participation restrictions" or "difficulty in functioning" and 1.57 percent respondents gave obscure responses.

In contrast to Indian Census or NSSO, the studies that record higher disability prevalence adhere to a much open definition of disability rather than completely relying on medical criteria of measuring the degree of impairment. Here the point is not whether census or NSSO officials examine medical certificate before classifying a person as disabled. Nonetheless, in a scenario marked by the lack of awareness amongst the enumerators as well as informants about a broader and inclusive definition of disability, census or sample surveys have underestimated disability prevalence in India. Hence, the available official data have limitations to provide the actual number of children who face disabilities while participating in school or the precise number of children who remain out of school owing to their disability.

II. Rights of Persons with Disabilities and the Constitution of India

Since different parliamentary and governmental enactments draw their strength from the Indian Constitution, this should be treated as one important fountain source of the rights and entitlements of persons with disabilities in India. It is evident from the previous section that demographically and socially, persons with disabilities are a significant block. However, their status is not so clear in the Indian constitution and depends in a great deal on interpretations. For instance, as Sambhavana Organization (a voluntary, non-governmental and nonprofit making organization for persons with disabilities)alleged in one of their campaigns for constitutional amendment, it is indeed very sad and unfortunate that Constitution of India does not have a single visible provision voicing specifically the rights of Persons with Disabilities in unequivocal terms. On the contrary, many articles contain undue limitations.[19] We can attribute this lacuna in Constitution as one factor responsible for the malady that prevails today in the country with regard to the legal rights of persons with disabilities. "For it is a settled law that while the interpretation of enactments might vary according to the understanding of courts or amendment in the statutes but the basic structure of the Constitution will remain intact".[20]

Sambhavana had proposed amendments in the Indian Constitution to the Constitution Review Commission Set-up by the NDA 1.Sambhavana even points out that there are many countries in the world, which have recognized the rights of disabled in their constitutions, for instance, Canada, South Africa and Eritrea.[21]

III. Specific Legal Instruments for Persons with Disabilities in India

Nonetheless, fundamental rights as enshrined in the Indian Constitution do not essentially exclude disabled persons and this is an important strength for their rights. Moreover, we have at least seven specific legal instruments for the protection of the rights and entitlements of persons with disabilities in India as listed below. Of these, five have been provided by the Indian Parliament, one by the Union Ministry of Social Justice and Empowerment, and one by the international commitment of the Government of India.

(A.) Mental Health Act, 1987;

(B.) the Rehabilitation Council of India Act, 1992; and

(C.) The Persons with Disabilities (Equal Opportunities, Protection of Rights and Full Participation) (PWD) Act, 1995

(D.) The National Trust for the Welfare of Persons with Autism, Cerebral Palsy, Mental Retardation and Multiple Disabilities Act, 1999.

(E.) National Policy for Persons with Disabilities, Ministry of Social Justice and Empowerment, Government of India, 2006.

(F.) United Nations' Convention on the Rights of Persons with Disabilities (UNCRPD), 2005, to which India has also ratified in 2007.

(G.) Rights of Persons with Disabilities Act, Government of India, 2016.

IV. General Legal Instruments for Persons with Disabilities in India

Beside these specifically designed legislations, occasionally, some general enactments of legislative bodies also very explicitly recognize the rights of persons with disabilities, such as the right to education Act 2009, and particularly its amendment in 2010. Even otherwise, general enactments have important bearings on their rights, positive or negative depending upon the specificities of the act in question and its sensitivities or lack of it to the plight of disabled persons.

V. Official Memorandums, Orders, Circulars and Judgements

Similarly, the Official Memorandums (OMs) and circulars issued by different Government agencies are another source of the rights and entitlements of persons with disabilities. Though it should be possible to find these OMs and circulars of a prior date, the DOPT (Department of Personnel and Training) OM of 1982 is considered to be one of the oldest but very useful document in this regard. Another significant document is the DOPT OM of 2005, which is actually a compilation of different OMs and circulars prepared and issued time to time by it.

The OMs issued by the DOPT pertain to the issues of employment;the circulars issued by financial agencies, Ministry of Finance etc.and the banking agencies (such as the Reserve Bank of India and the Indian Banking Association) pertain to the matters concerning the participation of disabled persons in the economic life; and those issued by the MHRD and autonomous bodies liketheUGC (University Grants Commission) to education. Similarly, MSJE (Ministry of Social Justice and Empowerment) issues orders on miscellaneous other matters.

Beside these, judicial interpretations and verdicts form another very strong corpus of the recognition of the rights and entitlements of persons with disabilities. In fact, these have proved to be by and large the main driving force towards improvement since the enactment of the disability legislation of 1995 not only in terms of the implementation of its provisions, but also for covering more and more areas within its ambit through progressive interpretations. These judgements or verdicts could be again classified in two parts. First, the judgements of various courts. Second, the judgements passed by the office of the Chief Commissioner for Persons with Disabilities, Government of India and its state level equivalents. These commissioner offices have the powers of the session court.

VI. The PWD Act of 1995

The disability legislations of 1987 and 1992 by the Indian parliament dealt with specific disabilities and specific issues, largely relating to education and training. However, the enactment of 1995 was much comprehensive. It specified seven conditions as disabilities: 1. blindness; 2. low vision; 3. leprosy-cured; 4. hearing impairment; 5. loco motor disability; 6. mental retardation; and 7. mental illness. It made special provisions for disabled persons with regard to their rehabilitation, and equal opportunities and participation in employment and education. However, over a period of time, many limitations of this Act were underlined by the disability writes scholars, activists and concerned officials. The Ministry for SJE also prepared a comprehensive list of required amendments in this Act. Hence, the need to amend the PWD Act of 1995 was voiced by the disability sector. Nonetheless, as we shall see shortly, the future course of events moved in a different direction.

VII. Harmonizing Indian Laws with UNCRPD and the Move Towards RPWD Act 2016

In 2007, India became a signatory to the United Nations Convention on the Rights of Persons with Disabilities (UNCRPD), which requires signatory states to harmonize their internal laws and policies with the framework of this Convention. The UNCRPD marks a very important shift from medical model of understanding disability to the social model of comprehending it. Its framework is wider than any other previous legislation and therefore It covers almost every aspect of human life of a person with disability. It treats disability as one of the many diversities that exist in the world. It recognizes that specific physical/mental/visual impairments become disabilities only in interaction with built environment and prevalent social attitudes.[22]

In response to the need for harmonization of Indian laws with the framework of the UNCRPD, the Government of India decided to bring about changes in its existing legal framework for persons with disabilities by once again focusing on specific laws legislated exclusively for them, instead of adopting a broad view of amending other laws over a longer period of time. In 2010, the government constituted an expert committee under Professor Sudha Kaulto draft a new Bill for persons with disabilities. This Committee submitted a Draft Bill on June 30, 2011. The draft was discussed in various consultations organized by the governments; and many DPOs (disability rights organizations) also gave their suggestions. The revised draft was although approved by the Cabinet, it could not be passed by the Parliament due to the dissolution of 15th Lok Sabha.It was subsequently passed by the 16 thLoksabhaand the Rajyasabha in December 2015.[23]

VIII. Issues in the RPWD Bill 2016

Of course, in general, the Bill was written in a more progressive language than the PWD Act of 1995. However, it belied hopes on many counts. Therefore, notwithstanding the fact that many leading disability rights organizations favored the enactment of this legislation perhaps as a contingent solution, it did not trigger the kind of euphoric response that we witnessed in 1995-96. It was thought by many sections within the disability sector that this 2016 legislation not merely frustrated the objective to give full effect to the UNCRPD,but even took away what was already available to them in the earlier Act of 1995 and other legal and juridical instruments.

Even though such reactions might be too sharp at times, however, on specific points, they were not completely off the mark either. This we shall elaborate below. Some of the major criticisms of the bill and the process of its promulgation (as was evident in many consultations) are being summarized below. However, the main focus will be on those areas where issues have been still unresolved even when the bill has become the act.

It was bemoaned that the bill was passed even without putting the final version in the public domain. Many important issues were left in the bill for the formulation of its rules by the bureaucracy. Moreover, a large number of judgments passed by the judiciary in the past had given progressive interpretations advancing the rights of disabled. It was therefore an anxiety that how this jurisprudence would find its place in the new Bill or in the rules to be promulgated for its implementation.

It was resented that the RPWD bill 2016 was passed in the Parliament without elaborate discussion, which is essential to avoid lacunas.Even many of those issues which were resolved in the previous drafts again dropped in the final bill. For instance, while the categories of disabilities were increased from seven to 21, it increased reservation only to 4% from earlier 3%, whilst 5%was provided in the earlier drafts.

Further, even though the Supreme Court had interpreted on 9th October 2013 in the matter of 'Union of India Vs. National Federation of Blind' that the section 33 of the PWD Act of 1995 provides reservation in promotion to employees with disabilities in all groups i.e. ABC& D. the bill relegates the right to reservation in promotion to a provision where it is left with the appropriate governments to issue instructions from time to time. Subsequently, the Hon'ble Supreme Court vide its judgment dated 10 Dec 2013 in a case titled as MCD Vs. Manoj Kumar Gupta upheld a judgment of Hon'ble Delhi High court which declared that Section 33 of the Disabilities Act 1995 provided for reservation in promotion for persons with disabilities in Groups A and B also. Again, in the Writ Petition (Civil) No. 521/2008 titled Rajeev Kumar Gupta and Others Versus Union of India and Others court held that reservation in promotion has to be given in Groups A & B posts under section 33.

The bill did not provide any provisions for women and children with disabilities.The bill lacks any serious engagement on the question of protecting the labour and economic rights of disabled persons employed in the private sector. The bill was also criticized for the lack of Punitive Action in its provisions against the violators except only a fine of Rs 10,000 to Rs 5 lakh.

Another major resentment was that the bill instituted “income ceiling” for provisions of aids & appliances, medicine & diagnostic services & corrective surgery free of cost and for the purpose of disability pension. Moreover, it retained the safeguard of “within the limit of its (state’s) economic capacity & development”.

Yet another critique was that the extension of time limit for making the building accessible on case to case basis as given in section 44 intended to delay accessibility for an indefinite period.

Ninth, another major hue and cry was against the effort to reduce the powers of disability commissioners. Although the bill retains the disability commissions in the center and the state, it did not make their power binding on agencies violating the provisions of the act.

Tenth, the educational provisions as laid down in the bill were found severely inadequate to meet the crisis. Let us see this issue in somewhat more details, because education is otherwise generally regarded as the panacea for the development and exercise of the rights of persons with disabilities. No doubt, the enrollment of disabled children in elementary education (as per the DISE statistics compiled by the NUEPA) has increased from 50 percent in 2001 to

about 74 percent by 2009, however, we also find that their enrolment in upper primary education (6th to 8th standards) is merely 34.80 percent of their enrollment in primary education. It means that about 65.20 percent disabled children enrolled in primary education do not reach upper primary level.

We can further understand the failure of school education to retain and promote disabled children with the example of Delhi University, which has about 82 affiliated colleges for undergraduate studies where roughly 1500 disabled students should be every year admitted under three percent reservation quota. However, notwithstanding the fact that Delhi University is a premier central university of national stature—which otherwise attracts students from all over the country and which claims to provide somewhat better facilities for disabled students—only 503 disabled candidates have been applying for admission over last many years. Even the extra ordinary measures taken by the Equal Opportunity Cell (EOC), University of Delhi (during last few years) to contact schools and provide all possible assistance for the admission of disabled children in undergraduate courses and the intervention on this issue by various Disabled Persons Organizations (DPOs) have not transformed this Situation. It is in this backdrop that we now turn to the provisions laid down in the RPWD Bill 2016 with regard to inclusive education.

(A.) Section 16, subsection (I) provides that disabled children will be admitted by all educational institutions without discrimination and the latter shall provide them education and opportunities for sports and recreation activities equally with others. However, this section, or other sections in this chapter nowhere provide for reservation of disabled children within the EWS category quota in admission in private schools. It should be read with the provisions contained in the chapter dealing with reservation and if required necessary amendments or appropriate cognizance should be taken whilst formulating the rules. It is pertinent to point out here that the RTE Amendment Act 2010 included children with disabilities under the definition of disadvantaged children.

(B.) Subsection (II) of Section 16 of course directs educational institutions to make building, campus and various facilities accessible for disabled. However, it provides No deadline for educational institutions to make their campuses and buildings accessible. Unfortunately, this Act makes no attempt to link the requirement of accessibility with the recognition status of educational institutions. It is all the more regrettable, because this provision is otherwise already in existence within an earlier legislation, namely in the norms annexed with the RTE Act (2009). There, the barrier free environment is made one of the conditions of recognition of educational institutions under the Act. It is a different matter that the same continues to be violated till date. In fact, for this reason of non-compliance, the RPWD Act 2016 could have made it stricter by proposing some effective monitoring mechanism. Moreover, the present RPWD Act 2016 does not present any blueprint or guidelines about the sharing or incentivizing the financial expenditure to be incurred by private institutions to make their premises accessible. It is important, because now these private educational institutions have been brought under the definition of establishment; and alsobecause the chapter on education includes not only the institutions funded by the Government but also those which are recognized by it. Private educational institutions will be covered thus under the latter term i.e. recognized. If budgetary aspects not specified, and if private institutions are made to comply, they might attempt to transfer this cost on the shoulders of other parents. This might not be so good for mutual social and peer relations between disabled and non-disabled.

(C.) The subsection (V) of Section 16 directs educational institutions to ensure that the education to persons who are blind or deaf or both is imparted in the most appropriate languages and modes and means of communication. An appropriate reading of this provision should cover Braille, e-technology, and Sign language, and any other method that might be devised in future to attain the objective of inclusive education of disabled in full. However, the language of this Subsection has been kept completely abstract without including these exemplary means and modes of communication, such as Braille, Sign Language and E-technology. These have not been explicitly stated here. If this language is not improved, it might become source of confusion. More importantly, improvement in language will send a strong message which is essential to break the inertia that has been in existence over last twenty years. The abstract nature of this subsection is additionally surprising, because it could not have been simply an omission or the result of ignorance, as the PWD Act of 1995 as well as the UNCRPD state these in clear terms. Of course, in order to retain the field open for additional facilities, the word etc could have been inserted after specifying these examples. In fact, this argument of bureaucratic intention to maintain vagueness is further corroborated by the fact that the same chapter elsewhere, in Subsection (F) of Section 17, directs The appropriate Government and the local authorities to promote the use of appropriate augmentative and alternative modes including means and formats of communication, including these exemplary means and modes of communication such as Braille and sign language. This makes it clear that in the section dealing explicitly with educational institutions, the Government wants to retain existing confusion wherein the state and local authorities smartly end up appointing at best the special educators at cluster level instead of appointing them in every school.

(D.) Of course, Subsection (VIII) of Section 16 provides for transportation facilities to the children with disabilities and also the attendant of the children with disabilities having high support needs. However, neither it states that these facilities will be provided to disabled children free of cost nor it clarifies that these facilities will be provided to them up to which age. Further, it does not clarify that in case of private or Aided institutions, who will reimburse this cost if we suppose that disabled students are not to be charged for it? It is important to underline the omission of the proviso of free of cost and upper age limit in this subsection pertaining to educational institutions, because elsewhere within the same chapter, in regard to other facilities, the appropriate Government and the local authorities have been explicitly directed under Subsection (G) of Section 17 “to provide books, other learning materials and appropriate assistive devices to students with benchmark disabilities free of cost up to the age of eighteen years”.

(E.) In fact, the above-mentioned provision as laid down in Subsection (G) of Section 17 is also dissatisfactory as it enshrines upon the appropriate Government and the local authorities the responsibility “to provide books, other learning materials and appropriate assistive devices to students with benchmark disabilities free of cost up to the age of eighteen”. It means that providing these facilities free of cost to disabled for attaining higher education, where they reach and continue beyond the age of 18 is not the responsibility of the appropriate Government and the local authorities as the RPWD Act 2016 cleverly shirks this liability entirely on the shoulders of the educational institutions.

(F.) The aspects of the training of teachers and other resource persons for children with disabilities have been dealt

(F.) The aspects of the training of teachers and other resource persons for children with disabilities have been dealt under Subsections (B.) to (E.) of Section 17. It does talk about training all teachers and staff in disability, but it does not mention any target date.

(G.) The entire chapter on education makes no mention of institutions of special education. The focus on inclusive education is indeed worth welcoming. However, given the current level of research and scholarship as well as the existing scenario, we cannot completely ignore the aspect of special education. Their problems should have been addressed and legal remedies should have been provided.

(H.) Appropriate relaxations in copy Right rules for vision impaired readers is an important issue closely linked to their education. Many significant developments are taking place on the international platform in this regard. However, nothing on this count is mentioned here.

(I.) Unlike earlier drafts, the RPWD act 2016 has not mentioned anything about home-based education. This might appear in the first instance a good sign as the proposed provisions in the earlier drafts of the RPWD Act for home-based education were criticized. However, at the same time, it does not mean that the dangers of home-based education are completely done away with, because this act nowhere unequivocally guarantees full time regular education for all disabled children. Moreover, the RTE Amendment Act 2010 has already provided for home-based education. I have elsewhere discussed the dangers of home-based education in detail.[24] Hence, it is highly required that the Government clearly specifies under the rules or through amendments in relevant legislations that the home based education model will be pursued under rarest of rare conditions of extreme disability in interaction with external environment; and to the extent possible, it would be provided only as a transitional stage, instead of as a regular substitution for inclusive education.

Notes and References

1. This is an updated version of the paper 'Rights of Disabled and Disability Laws in India', paper presented by the present author in a workshop on 'Laws and Rights', Organized by The Department of Political Science, Gargi College, Delhi University, New Delhi on 4 th February 2017.
2. Nidhi Singal, *Forgotten Youth: Disability and Development in India* in University of Cambridge, (RECOUP Working Paper 14), January 2008, p 5.
3. Govt. of India, *Census of India,* Registrar General & Census Commissioner, India,2011. http://www.censusindia.gov.in/Census_Data_2001/Census_Data_Online/CensusDataOnline_Login.aspx . *(*Access on 28 July 2019)
4. Government of India, *Disabled Persons in India, NSS 58th round*in*National Sample Survey Organisation,* Ministry of Statistics and Programme Implementation, July – December 2002 , December 2003.
5. Leni Chaudhari, *Disability, Health and Human Rights*, The Centre for Enquiry into Health and Allied Themes (CEHAT), Mumbai, 2006.
6. Nidhi Singal, op. cit., p. 5.
7. Ibid.
8. At the global level, the Global Burden of Disease estimates of moderate and severe disability prevalence are 11% higher for females than males, reflecting somewhat higher age-specific prevalence in females, but also the greater number of older women in the population than older men. But the World Health Survey estimates give a female prevalence of disability nearly 60% higher than that for males. *World Disability Report*, World Health Organization (Who), 2011.
9. Ibid.
10. Ibid.
11. Ibid.
12. Cited in R.S. Pandey And Lal Advani, *Perspectives in Disability and Rehabilitation*, Vikas Publishing House, New Delhi, First Published 1995, p. 15.
13. Ibid.
14. World Report on Disability, OP. Cit., 2011.
15. Cited in R.S. Pandey And Lal Advani, op. cit., 1995, p 15.
16. Ibid, (especially Prologue and Chapter 2).
17. S. Mukhopadhyay, and M.N.G. Mani, *Education of Children with Special Needs*in R. Govinda (Ed.), *India Education Report: A Profile of Basic Education*, New Delhi, Oxford University Press, 2002, pp. 96-108.
18. Child Rights and You, *Statistics of Underprivileged India Children*. http://uk.cry.org/knowus/statisticsindiachildren.html (Access on 28 July 2019).
19. Sambhavana had launched an online petition for constitutional amendment to ensure equal recognition of the rights of persons with disabilities. https://www.change.org/p/hon-ble-president-of-india-proposing-amendments-in-the-constitution-of-india-to-ensure-right-to-equality-for-persons-with-disabilities
20. Ibid.
21. Ibid.
22. UNO, *United Nations Convention on the Rights of Persons with Disabilities,* United Nation, 2007
23. For this history of the passage of the RPWD Act 2016, I have relied on the documents and presentations

prepared and circulated in the 'National Consultation on the RPWD Bill 2016' Jointly organized by People's Action for Change & Empowerment (PACE) & Centre for Accessibility in Built Environment (CABE), At Blind Relief Association, New Delhi, on 29-30 December 2016.http://cabeindia.blogspot.com/2016/12/invitation-for-national-consultation-on.html

24. Vikas Gupta, *The Politics and Discourse of 'Home Based Education*: *Another Pretext for Denying the Right to Education*' in *Reconstructing Education,* Vol. 1: (4) and Vol. 2: (1), 2012-2013, pp.11–16.

Educational Inequities in Colonial India and the Agency of Teacher: Lens of Molvi Zaka Ullah

Vikas Gupta

Introduction

Through the analysis of the ideas and activities of Molvi Zaka Ullah (1832-1910), the present paper[1] intends to explore certain historical questions pertaining to modern education in colonial India. He was one interlocutor who remained deeply involved in education throughout his life. Even when Zaka Ullah dealt with the specific subject of the education of Muslims, he sought to locate it within the overall structure of educational inequalities rather than within any framework of conspiracy against them or about them. Zaka Ullah tried to move away from the tendencies of communal homogenization and recognised the diversity of the classroom situation; sought to maintain a delicate balance between individual aspirations and concerns of the community; and transcended the dichotomy between tradition and modernity. He critically dealt with two subjects: the decline of the vibrant indigenous educational arrangements, on the one hand, and the iniquitous growth of modern liberal education, on the other. A study of Zaka Ullah involves a remarkable journey through the educational spheres of the Moghul court to that of the colonial state and through alternatives like MAO College in Aligarh and Tibiya College in Delhi. He remained committed to all these projects, yet, his vision was wide enough to transcend each of them.

While Zaka Ullah wrote extensively on these issues, the present paper focusses merely on one aspect: his linkage of issues such as the service conditions of teachers, their conduct and their pedagogy with the question of educational inequality of Muslims. In order to contextualize Zaka Ullah's perspectives properly, we will also examine in the first half of the paper the trajectories of Indo-Islamic learning from the pre-modern to the modern period as well as the broad contours of the official discourse on Muslim education in colonial India during the second half of the nineteenth century.

There continues to be some differences of opinion amongst scholars about the exact dates of the various educational and professional stages in the life of Zaka Ullah. It may not be possible to enter into a detailed discussion of these debates here. Therefore, for the benefit of the reader, I have tried to present only a brief introductory sketch here with the help of existing scholarship on Zaka Ullah[2], alongside some annual statements on Delhi College from the reports of public instruction in the 1850s.

Zaka Ullah's ancestors had served as teachers (*ataleeq*) under the

Mughal princes: he on occasion visited the Moghul household in his early childhood. He received his initial education at home from his grandfather Hafeez Bakaullah, particularly lessons on Arabic and Persian. Zaka Ullah was sent to study at the historic Delhi College in 1845/46 on a scholarship for six years. At the Delhi College, Zaka Ullah was taught by a renowned Indian mathematician of his time, Ramchandra, who also provided to him first lessons in English. Molvi Imam Baksh Sahbai was his teacher of Persian, Arabic and History. Zaka Ullah was appointed as Senior Scholar at the Delhi College in 1858. Thereafter, Zaka Ullah had various brief professional stints at different institutions in the period from the mid-1850s to the late 1860s. For instance, he taught Urdu literature at Agra College; served as Deputy Inspector of Schools in Buland Shahar District in North-Western Provinces (present day Uttar Pradesh); and worked as Headmaster at the Normal School (meaning teacher training college) in Delhi. Thereafter, Zaka Ullah worked as Professor of Vernacular Literature at Muir Central College in Allahabad from 1869 to 1887 where he also took classes in Arabic and Persian. After his retirement from Muir Central College in 1887 and until his death in 1910, he spent his life chiefly in Delhi and occasionally at Aligarh while also travelling to Punjab for fund raising for the Anglo-Muhammadan College founded by Sayyid Ahmad Khan at Aligarh.

Zaka Ullah was a prolific writer in Urdu during the second half of the nineteenth and the early twentieth centuries, covering every subject known to him. Rafat Jamal[1] mentions a total list of 159 books of Zaka Ullah and a lot of journalistic articles. In my ongoing research, I have so far come across more than forty additional titles of Zaka Ullah's books in various library catalogues in India and abroad. Hence, we can safely say that Zaka Ullah wrote approximately 200 books and a large number of journalistic articles in Urdu on very diverse subjects. Mathematics and different branches of the natural sciences constitute almost half of the total compendium. Other subjects include history, geography, political economy, language, grammar, dictionary, moral readers, biographies, education and so on.

From Indo-Islamic Learning to Western Style Education

The older historiographical framework of modern education of Muslims in colonial North India[4] was circumscribed by perceptions of their key role in the revolt of 1857 on the one hand and the arguments about a deliberate official policy of divide and rule which supposedly led eventually to the Partition of India in 1947 on the other. While the exercise of enumeration the advantages and disadvantages of this kind of a framework determined by the narratives and counter narratives of landmark events and the politic of the modern state should be undertaken, it is not, as such, the subject of the present paper. A conscious attempt will be made in the present paper t

avoid teleology and anachronism and to focus on some immediate, routine ground level matters.

Francis Robinson's recent discussion of 'education in the Muslim World to the end of the eighteenth century'[5] provides many useful insights: some of them have been utilized in the present paper as well. However, this part of Robinson's work glosses over the epistemological diversity of pre-modern knowledge traditions in terms of interaction of Islam in South Asia with other communities. Therefore, such an approach appears to be inadequate for studying the history of education in pre-colonial South Asia, with appropriate focus on the Muslim community as background, to assess the change and continuities marked by the transition to colonialism.

Some recent writings of S.Z.H. Jafri[6] tend to capture the diversity of knowledge traditions in the context of medieval South Asia including its inter-community aspects and the deleterious impact of colonialism on the educational endowments of the Muslim elite. Even though not entirely new, these essays provide important observations pertaining to the education of South Asian Muslims in the transition from the pre-colonial to the colonial period. These essays are focused on the transitional phase and not so much on the post-1857 period. Jafri lays too much stress on the role of state funding of indigenous institutional arrangements for education in South Asia; and this support was often discontinued on sectarian grounds. This might make it conceptually difficult for us to comprehend the difference between the pre-modern and the modern forms of state control of education and the state's relationship with civil society organizations. Nonetheless, Jafri is not alone in stressing the central role of the state in the financing of the institutions of indigenous education: this has been also noted by other historians, such as Dharmpal.[7] Moreover, as elaborated below, Jafri recognises that rather than the institutional arrangements, individual teachers played a greater role in the spread of education in pre-colonial South Asia. Perhaps this provides for a freer space than available when dependent on the state. While Jafri[8] ultimately pursues the line sketched by William Wilson Hunter in his *The Indian Musalmans*[9] (discussed below) to demonstrate the deleterious impact of colonialism on Muslim educational endowments in Bengal, he also uses additional sources to substantiate the argument.

Amar Farooqui's study of knowledge formation in Delhi[10] outlines how the transition from the indigenous to a modern education system posed new challenges to the pre-existing possibilities for the education of some talented but poor students. He also shows how despite this, several gifted teacher-scholars emerging from pre-revolt indigenous educational realms of Delhi contributed to the new learning. For instance, alongside his administrative work, Mufti Sadruddin Azurda was closely connected with Delhi College and was at the same time engaged in teaching at and

supervising a madrasa. Nazir Ahmad who studied at the Delhi College could translate the Indian Penal Code into Urdu due to his extensive knowledge of law and jurisprudence derived from Arabic texts as well as his command over Urdu, however, the foundational role of his teacher Maulawi Abdul Khâliq at the madrasa attached to the Aurangabadi mosque was crucial even in getting him admission to the college. Similarly, Master Ramchandra, renowned mathematician of the nineteenth century who taught at the Delhi College was a student of a Maktab. According to Farooqui, it was the revolt of 1857 which destroyed the unifying bonds of these centres of learning. In the subsequent period, when it became increasingly difficult to challenge colonial ideas, scholars like Zaka Ullah and Nazir Ahmad attempted to adjust to this situation through their extensive translation activities and Urdu writings while also working for the colonial state. Farooqui argues that, therefore, a dichotomous separation between modern, Western learning and traditional learning is not feasible.

According to Francis Robinson, knowledge was classified by Muslim intellectuals of the pre-modern period into two broad fields: the transmitted or traditional sciences (*ulum naqliyya*) and the rational sciences (*ulum aqliyya*). The traditional sciences included the Qur'an; the established ways of reading it; the forms of Qur'an commentary (tafsir); the Hadith; and jurisprudence (*fiqh*). Rational sciences included logic; physics (with two subsets, medicine and agriculture); Metaphysics; and mathematical sciences (with subdivisions like geometry, arithmetic, astronomy, music (the theory of tones and their definition by numbers), craft of calculation, algebra, business, arithmetic, the arithmetic of inheritance laws, spherical figures, conic sections, mechanics, surveying, optics and astronomical tables). The literary arts (adab) were initially seen as associated with the traditional sciences, but subsequently these were recognised as a separate field. Adab studies included grammar, poetry, letter writing, history and moral philosophy.[11]

The ruling dynasties in medieval South Asia had 'carefully devised a structure of patronage, financial concessions and means for providing remuneration to a class of persons for intellectual and literary activities which included the migrants as well as the older members'.[12] They supported various kinds of educational institutions for 'dissemination of knowledge, running of free kitchens, sharing their experiences & skills'.[13] Their education system included production of administrative skills, Muslim theological studies, study of 'Arabico-Persian knowledge, translation of Sanskrit classics into Arabic and Persian and the development of local literary languages. As a result, Indo-Islamic branches of knowledge, such as *'Ilm al-Hindsa*, the stories of *Panchtantra*, the *Yog Vashishth* and *Charak Samhita*, the theories and the treatises on Astronomy and Astrology were made popular in the Arab World (later in Europe in their Arabic garbs)'.[14]

Even the scrutiny of Persian works reveals 'the progress of the

transmission of Sanskrit-centred studies and the teaching of other 'Hindu sciences', for instance, the Brahmans in Varanasi, Ayodhya, Vrindavan, and Jagannath Puri etc. continued to pursue traditional forms of learning. On the other hand, the Brahman elite near the administrative centres tended to acquire expertise in Persian-centred studies and freely joined the bureaucracy of the medieval state.[15] Further, Sanskrit was not only used for writing theological books, but also for composing treatises on philosophy as well as medicine.[16] The Brahmans also acquired knowledge of Arabic and Persian and became experts in the art of letter-writing (*insha*).[17]

Generally, the grants of educational endowments were renewed by successive regimes in favour of the family/extended family of the founding teacher.[18] There are instances when institutions and intellectuals faced hardships or intellectual traditions declined whenever the state in the pre-colonial period suspended the renewal of such grants on financial or ideological grounds.[19] *Shi'te fiqh* has a provision for *Sahem-i-Imam*. According to this provision, the Imam has an exclusive share on the income of every Shi'a Muslim. Many Shi'a seminaries of higher religious learning elsewhere (at Qom, Karbala, Mashhad and Najaf) sustained themselves mainly through *Sahem-i-Imam*.[20] However, the Shi'a theologians could hardly develop any stable institutions of higher religious learning anywhere in the South Asian subcontinent.[21]

Jafri maintains that the educational endowments (waqfs) of South Asian Muslims during the Middle Ages were never fully alienated from the state in favour of the grantee in the strictly legal sense. Therefore, when the British East India Company captured political control of this area, these educational institutions had to face the ruinous impact of colonial policies as is evident from the study of the fortunes of the *ma'afi* holders during the late eighteenth to early nineteenth centuries. The colonial government insisted on seeing the original deeds of grant and refused to admit the certified copies of the original grants as per the new law of evidence under the rule of the East India Company. Thousands of *ma'afi* holders had to forgo their entitlements especially during the *In'am* Commission of Bengal (1828–1846).[22] Besides this, the 'embezzlement' by the colonial administrators in the educational trusts, such as the waqf of Haji Mohammad Mohsin at Hugli and the Madrasa Ghaziuddin at Delhi has been seen as yet another cause of the devastation of the educational endowments of Muslim elites.[23] On the other hand, even though certain institutions, such as the famous *Madrasa-e Jalalia*, *Baees Hazari* and *Shash Hazari* waqfs in Burdwan and Malda Districts of Bengal, had been funded by the pre-colonial ruling dynasties and continued to enjoy extensive property till the twentieth century, they lost their importance and fame in the new educational set-up. The colonial rulers were creating a different kind of education system and therefore these older establishments got marginalised.[24]

However, Jafri observes that notwithstanding some examples of state-

run or financially supported institutions, education was largely promoted through individual efforts.[25] Francis Robinson also agrees that under the Mughal Empire individual teachers were the main planks for the spread of education: 'formal madrasas were a rarity'.[26] Even within a madrasa, it was the teacher who granted *ijaza* to students for progressing from grade to grade. The teacher decided whom he would teach and what would be the timing of studies, sequence of subjects and teaching pedagogy.[27] Oral, person-to-person transmission was greatly preferred to private study.[28] The student received *ijaza* from the teacher after successfully completing the learning of a book which was a potent symbol of his authority.[29] Teachers often took resort to corporal punishment to improve the conduct and performance of the pupils. However, it was underlined that it should be moderate, as the severe treatment of children led them into deceitful ways and it also dehumanised them.[30]

Thus, while institutions were established for the transmission of knowledge, it was generally an 'informal and intensely personal process between teacher and pupil' or master (*murad*) and disciple (*murid*) which was operationalized through study circles in the mosques, private houses, shops, madrasas, under a tree or on a river bank.[31] Within these non-centralised, premodern arrangements of education, the madrasas provided educational services to the community: some had employees to teach the Qur'an or how to write; others, along with mosques or *khanqahs*, might support men who would recite from memory, for popular consumption, basic books from the traditional sciences including Qur'an commentaries and accounts of the early pious Muslims.[32] The role of the madrasas can be best seen as yet another method of the enhancement of person-to-person transmission of knowledge further aided by generous provision of stipends and scholarships and the professionalisation of the 'ulama'.[33] One of the biggest blows to traditional madrasa education, and the court employment it opened up, was the decision of the East India Company to replace Persian as the official language with vernaculars and English during the 1830s.[34] Persian had been a popular medium of education as it was the language of the Mughal Court. Arabic was the other classical language for Quranic learning.

Further, according to Francis Robinson, colonial rulers believed that Indian subjects remained loyal in proportion to the extent of their English education during the revolt of 1857. Consequently, oriental learning in Persian, Arabic and Sanskrit was almost wiped out of the system. The oriental departments in Agra, Bareilly and Delhi colleges were abolished and the Sanskrit department at Benares was retained.[35]

Zaka Ullah also underlined that the pre-modern indigenous arrangements of education were quite vibrant and yielded long lasting fruits. Alongside with the support provided by mosques and affluent classes, rulers and emperors also patronized teachers through the grant

of jagirs, various gifts and land. Thus, higher education was imparted in mosques and shrines and madarsas.[36]

Zaka Ullah noted that within indigenous arrangements of education during the pre-modern period, teachers enjoyed full agency in every aspect of educational planning and execution. Therefore, the outcomes of these indigenous arrangements of education were also very impressive. In the renowned madarsas, one class of great dignitaries (*jaleelul kadr*), scholars (*fuzala*), teachers (*ulema*), jurists (*fuqha*), the interpreters of scriptures (*mufassareen*), and narrators or scholars of hadith (*muhaddiseen*) were produced. Their writings testify to their capabilities. Till date, they are regarded as objects of reverence. 'The writing or discourse of these wonderful people still touches hearts and shapes the manners and habits of thousands of Muslims'.[37]

Like the writings of Dharmpal[38] and Jafri[39] on indigenous education in India, Zaka Ullah also saw the role of the state as an important factor in the financing of pre-modern education. He agreed that the decline of Sultanate (Moghal) rule slowed this otherwise vibrant process; and the colonial government's Department of Education caused further disarray (*darhami barhami*).[40] However, unlike Dharampal, he did not exhibit any nostalgia and glorify it. Even though Zaka Ullah noted that the educational arrangements of Muslims were in some disarray during British rule, he recognised that education was spreading amongst masses. He underlined that earlier there were no systematic arrangements (such as the modern departments of education, their annual reports and their prescribed textbooks, etc) for the education of the masses.[41] However, Zaka Ullah also underlined that the new arrangements had their own unique problems. These problems are described in subsequent sections of the present paper largely through the lens of teachers and linked to the question of the educational backwardness of Muslims.

Colonial Discourse on the Educational Backwardness of Muslims

Many of the ideas of Zaka Ullah on the subject of the present paper were articulated in the backdrop of the discourse on education, particularly the education for Muslims during last three decades of the nineteenth century. For instance, William Wilson Hunter wrote a number of essays during the 1860s and early 1870s about the Indian Muslims, which he compiled in the form of a book in 1871.[42] He primarily focused upon the jihad organizations or the Indian Wahabi movement particularly in Bengal and on the debates around the question whether India under the colonial Government is a *Darul Islam* or *Darul Harb*. He tried to demonstrate a widespread network of Muslim sedition and threats on the frontiers of British rule in India. In the fourth chapter of his book,[43] he listed various factors responsible for the dissatisfaction of Muslims which also included examples of the

misappropriation and maladministration of some educational endowments by colonial officials and many other problems discouraging the community to avail of the opportunities of education created by the government. Hunter perceived in the attitude of the 'more pious and the wealthier families of Muslims in Bengal' abhorrence for the governmental institutions of education, because Persian and Arabic were not taught even within the higher classes of district schools. Moreover, they feared that Hindu masters might corrode the faith of Muslim children in their own religion, particularly in the context of the absence of any provision for religious education within these government schools, where even the religious or festival related requirements of Muslims were ignored whilst preparing the calendar of public holidays and where textbooks often contained 'puerile follies' about Muslims.[44] As distinct from this, Hunter underlined that the middle class (Muslims) sent their boys to the colonial schools. However, according to Hunter, in Bengal, the size of middle class of Musselman's was very thin to have any effect.[45] It clearly means that he recognised prevalence of mass poverty amongst Bengali Muslims. Similarly, Hunter stated that the lower-class Muslims have never been reached by the colonial system of education, although Missionary Schools, such as those of the Rev. James Long were full of them.[46] It once again shows that he was not arguing for an overall aloofness of the Muslim community towards modern education simply on religious grounds.

While Hunter advocated some special measures to promote education amongst Muslims, it was not exclusively separatist as such: the Grants-in-Aid system had already permitted special schools. Similarly, proposals for scholarships for Muslim students were not exceptional if seen in context of the growing prevalence of stipends for differently marginalized groups and for meritorious students in that period. Hunter recommended the establishment of a system of education for all classes of the Muslim community without much additional expenditure by the state exchequer. Hunter suggested relaxation of the five miles rule for providing state grants to special schools for Muslims even if another government school (with overwhelming Hindu student population) already existed in the area.[47] It may be noted here that such schools were to be established under the grants-in-aid system where the community was first required to open an institution, run it successfully for a certain number of years, continue collecting fees from students and then claim only part of it to be reimbursed by the state. Hunter recommended that a Muslim teacher be recruited within the (ordinary) government schools, because these schools had an overwhelming Hindu presence and these did not have enough arrangements for the teaching of those subjects and languages that the Muslim community wanted to study.[48] Hence, such educators were needed who could teach different subjects in Urdu medium and who could also teach Urdu, Persian and Arabic languages and literature so

that the aloofness of Muslim parents towards government schools could be addressed. (It is an altogether different question that by this time, the knowledge of languages like Urdu, Persian and Arabic and the literatures contained in them was being increasingly restricted to Muslims alone). Hunter's proposal to appoint a Muslim as a special Deputy Inspector of Schools for the lower and middle-class education of Muslims should be also seen in terms of the educational difficulties of Muslim students.[49] Government schools did not provide free education in this period. Hunter recommended establishment of government schools where initially no fee will be charged only in areas where the peasantry was 'too ignorant, too poor, or too bigoted to establish and run a school under the Grant-in-Aid Rules'. However, here too, the fee level was to be raised with increasing levels of education.[50] Even for higher education of Muslims, Hunter was very clear that there was almost sufficient money available from the already existing Waqfs (trusts) if their administration could be improved through European principals and residents and if these could be utilized for promoting both, Oriental as well as Western learning through an unbroken curriculum of Anglo-Persian education from beginning till end.[51]

One of the critiques of Hunter's approach, both in the contemporary discourse;[52] as well as subsequent historical writings[53] has been that he generalised the situation of Muslims in Bengal to the entire country. We have already seen that Jafri does not critique Hunter for this, and endorses his overall argument. His research for yet another paper[54] corroborate by implication Hunter's broad argument. There was a large *Soofi khanka*-madrasa in Awadh which was funded by the Mughals, the Nawabs of Awadh and the local landed elites in the pre-colonial period; and which enjoyed the reputation of being 'one of the best managed institutions' in the region. Within 20 years after the annexation of Awadh in 1856, it began to be identified as the most 'ill managed' and 'debt-ridden' institution Gradually, 'through consistent interference' by colonial administrators and by their instigation of 'the endless process of litigation between the members of the various branches of the family', it was reduced to 'a shadow of its former self'.[55]

Governor General Lord Mayo issued a resolution dated 7 August 1871 wherein he recognised educational backwardness of Muslims (except in Punjab). He recommended systematic encouragement and recognition of Arabic and Persian literature; encouragement of the classical and vernacular languages of Muslims in all government schools and colleges as the medium of education; and the appointment of qualified Muslim English teachers in the English schools established in the districts predominantly inhabited by Muslim population.[56]

The next Governor General Lord Northbrook recorded in his resolution of 13 June 1873 that the backwardness of Muslims in higher education might be traced down to primary education. He underlined that the

Muslims occupied their proper position in the primary and secondary schools founded or aided by the State in those areas where the ordinary vernacular of the country was read and written in the Hindustani or Urdu character. In those provinces where Muslims were scattered, less numerous and spoke a different language from that of the majority, the special arrangements required for them could not be provided. Where Muslims used a form of the country dialect, they attended the same primary schools with others, but their exclusion grew as they proceeded towards higher levels of education. However, in the areas where their mothertongue was different, both in the spoken as well as written form, they could not attend the primary schools established or aided by the State.[57]

Subsequently, the Education Commission chaired by W.W. Hunter countered the assessment of the provincial governments in their responses to Lord Mayo's Resolution of 1871 that the claims for the educational backwardness of Muslims are exaggerated except in the field of higher education.[58] For instance, the Education Commission argued that whilst in 1871–72, Muslims constituted 22.8 percent of the total population in the 6 provinces of India, the percentage of Muslims receiving school education (of which the Department had information) to the total number of all classes in such schools was 14.7 percent.[59] The Education Commission also argued that if the number of aboriginal tribes and other non-Hinduized people was deduced and Native States were excluded from these figures of Hindu population, the Musselman's would form about 25 percent of the total population. In that case, they would appear to be educationally even more backward than suggested by these statistics.[60] Another argument of the Education Commission was that even though in the Northwestern provinces, and to a much larger extent in Oudh, the proportion of Muslim schoolboys to the total number was greater than the proportion of Muslims in the population, in the other provinces it was much less. The population share of the Muslims in these provinces taken together was over 26 percent and the proportionate share in school enrolment was under 10 percent.[61]

The reasons noted by the Education Commission for limited appreciation of modern education (as provided within the Government schools) by the Muslim community included the small proportion of Muslim teachers in Government institutions; the practice among the well-to-do Muslims of educating their children at home; the unwillingness of the better off sections to associate with those lower in the social scale; their hereditary love of the profession of arms, the pride of race and a memory of bygone superiority; the use of those textbooks in government schools which were hostile or scornful towards Islam; the late entry of Muslim students into formal school education as they were first sent to acquire some religious education; and widespread poverty amongst Muslims leading to the early drop-out of children from schools.[62]

Therefore, the Education Commission recommended treating the

special encouragement of Muslim education as a legitimate charge on local, municipal, and provincial funds; to liberally encourage indigenous Muslim schools to add purely secular subjects in their curriculum; to adopt special standards of grants-in-aid for Muslim primary schools; to use Hindustani as the principal medium for imparting education to Muslims in primary and middle schools (except in localities where the Muslim community desired the adoption of some other language); to encourage Higher English education for Muslims; to introduce a graduated system of special scholarships for Muslims from primary to collegiate education; to reserve a certain proportion of free studentships for Muslims in all schools maintained from public funds; to establish normal schools or classes (wherever necessary) for the training of Muslim teachers; to appoint Muslim teachers wherever education is provided in Muslim schools through the medium of Hindustani; to recruit Muslim inspecting officers for the inspection of primary schools for Muslims; and to devote in the annual Reports on Public Instruction, a special section on Muhammadan education.[63]

It is noteworthy, however, that while the Education Commission made recommendations for the special encouragement to Muslim education as a legitimate charge on local, municipal, and provincial funds, its main emphasis remained on self-help and the grants to educational institutions opened by the community itself. It stated that 'self-help and self-sacrifice are the nobler principles of conduct and surer paths to worldly success'.[64] It praised Aligarh College as to be 'the rival of the Government colleges' in its 'best characteristics', such as the 'religious instruction as part of the daily exercise'; the existence of the places of worship among the college buildings; promotion of morality and good manners through compulsory residence in college for all students coming from a distance; and 'a healthy discipline varied by healthy amusement' to foster 'a manliness of character which home life would fail to give'.[65]

The Government of India sent the recommendations of the Education Commission to the provincial governments for their opinion, which were discussed in its Resolution of July 1885, wherein it accepted the provision of scholarships as an essential part of the policy of providing Muslims requisite facilities for securing education and positions in public and professional life. It also allowed the appointment of special inspecting officers to inquire into the causes that hindered the progress of education amongst Muslims, and the means of developing it for places like Bengal and other areas where Muslim education was backward.[66] The Government of India assigned Sir Alfred Croft the responsibility to prepare a report on the basis of the provincial measures to implement the recommendations of the Education Commission and review the progress achieved during 1881–1886. Evidently, the situation reviewed by Croft (for the period from 1881 to 1886) could not have been significantly shaped by the recommendations

Volume 50 / Numbers 9–10 / September–October 2022

of the Education Commission (1881–1883)[67] in such a short time. If at all, it could have been shaped by the measures adopted by the provincial governments following the resolutions of Lord Mayo (1871) and Lord Northbrook (1873).

Of course, in his review, Croft recorded a striking advance attained by 1886 if compared with the situation that prevailed in 1881–82. He stated that 'great as was the progress made in the education of all classes, that of the Muhammadan community was exceptionally rapid.'[68] For instance, he reported that the number of Muslims reading in arts colleges increased from 197, or 3.6 percent, of the total number of students in those institutions, to 330 or 4.4 percent. Similarly, in colleges for the education of law, medicine and engineering, the number increased from 73 to 132, and the percentage from 4.3 to 5.1. The proportion of Muslim pupils in secondary schools also increased during this period from 9.3 to 13.5 percent.[69]

Still, according to Croft, it was only in primary schools that the percentage of Muslim pupils (21.1) exceeded the share of the community in the entire population (19.1). The Muslim proportion rapidly declined at subsequent stages of education. It was also evident in the results of university examinations. For instance, among 175 successful candidates at the various examinations in law, not one was a Muslim. Out of 269 candidates who passed one or other of the medical examinations, six were Muslims, or 2.2 percent. In engineering, one (Muslim) candidate passed out of a total of 188, or about 0.5 percent. The proportion of Muslim students reading in general and professional colleges was about four percent.[70]

Croft summarised the following chief objections against the recommendations of the Education Commission for Muslims as raised by the provincial governments.[71]

First, it was not to the interest of the Muslims themselves that they should be offered special facilities for learning Hindustani and Persian, instead of the vernacular of the country in which they were to be employed. However, on this, Croft's response was that this objection, so far as it relates to Persian, seems to spring from a misapprehension: Persian was not to supersede the vernacular, but to take the place of Sanskrit, which was taught as a second language to Hindu boys in high Schools.

Second objection was that it was not in the interest of Muslims to establish special schools for their benefit. It was a duty incumbent on the Government to repress and discourage rather than to foster such a tendency. Though Croft did not a counter this objection, the fact is that the overall apparatus of colonial education was marked by different kinds of special schools for different castes, classes, communities and male and female students.

Thirdly, it would be unfair for others to establish scholarships for the special benefit of Muslims, as they were also allowed to compete on

equal terms for the State scholarships that were open to all. It needs to be noted here that the idea of individual merit as the basis for the award of scholarship was the rationale behind such opposition. However, it implies the failure of such opponents to deconstruct the concept of merit itself as generally a socially defined, determined or influenced product.

Fourth, it was argued that The Education Commission, in their leaning towards generosity, seemed to have overstepped the limits of justice. This argument is clearly contested through the data given in the report of Croft as reproduced above.

Taking a different line, Peter Hardy argued that the levels of education among Muslims varied from province to province and were far from being below the general level in most of them. Though the provincial governments as well as the Education Commission (1881–1883) knew this, the government committed itself to 'a leaning towards generosity' in the treatment of Muslims.[72] Although in 1886–7 the governments of the North-Western Provinces, Madras, the Punjab, Central Provinces, Assam and Berar all declared that they did not require special measures to promote Muslim education, the suggestion that the special disabilities of certain classes of Muslims in Bengal and Bombay affected all Muslims in British India was given official respectability in Government of India resolutions and thereafter proved beyond the power of facts to refute.[73] Similarly, it was particularly in Bengal that Muslims were underrepresented in the official service, but the situation was not identical everywhere. Rather, in Punjab and the Northwestern Province they did very well in securing government employment.[74] Thus, Hardy underlines that at a time when religious identities were being downgraded in Britain, the British imposed the yoke of communalism on Indians, encouraging political fragmentation and the intensification of religious antagonism in an already divided society.[75]

However, even though there were some regional and social variations, these features of the last three decades of the nineteenth century unmistakably establish that there was exclusion or backwardness of Muslims in the higher schools, in the colleges, and in the universities. They reveal the manner in which the colonial system failed to encourage Muslims to continue their education up to the higher levels. It did not persuade them to continue their education up to the level which could have enabled their success in the services and open professions. Of course, different sections of the Muslim community of India had different experiences. This could be true for any other socio-religious community as well.

Zaka Ullah on Teacher and Educational Inequalities

Paulo Freire[76] was particularly critical of the assumption that all knowledge is possessed by teacher; and students have to only receive it from him. Such assumptions imply completely passive agency of learner's: they are only at

the receiving end of knowledge possessed by the teacher. The capability of students to enrich learning process for all classmates as well as for teacher through their life-experiences is not appreciated.

Similarly, Basil Bernstein[77] discussed three kinds of classroom situations based on 'strong', 'weak' or 'no 'framing'. While 'no framing' is about a situation where teacher comes to the class without any planning of the structure of teaching, 'strong framing' is its corollary opposite where teacher comes with a fixed lesson plan and leaves no room for students' articulation of anything supposedly outside it. Therefore, Bernstein underlined how 'weak framing' could be an appropriate pedagogy for appreciating learning as a dialogical process between student and teacher where both are learners and bring their own insights and experiences into the class and thereby both are benefited.

Notwithstanding every other difference, we find clearly perceptible resonance of these ideas in the writings of Zaka Ullah. For instance, Zaka Ullah criticized the harsh and violent attitude of teachers in colonial India and linked it with country's subjugation or with the sovereignty of the being. He wrote, 'Teachers keep stick in their hand; make angry faces whilst delivering lesson; convert school into prison, and enslave boys to pursue their training with sticks'. He further stated that whatever teachers do, the impact of that on boys is that they are not so bad at the time of entering the school as they become by the time of their completion.[78] He asked, 'How can the children of those communities who are beaten with shoes in school become leader/sovereign'.[79]

Zaka Ullah suggested that it is not good on part of teachers to instruct students to listen and do not encourage them to speak, because it obstructs students' progress. Further, Zaka Ullah suggested that teacher should not merely talk about those things that he invented in his mind. Instead, he should allow students to express whatever they have discovered in their minds or course of studies.[80] According to Zaka Ullah, student thus gets benefit of two types of education: first, the education imparted by the teacher, which is not much; and second, students' self-study, his own effort for education.[81]

Pointing at the arrogance of educators, Zaka Ullah wrote that one type of teachers are those who amass knowledge and observe such miserliness that they do not want others to also acquire it. Some teachers want recognition of the supreme authority of their knowledge. They burn in anger if slightest objection is raised, or any indifference is exhibited towards them. Zaka Ullah contrasted this situation with the metaphor of plants symbolizing humility: intellectual is like plants of food grain. When they come out of the ground, even when they do not contain food grain, keep their head high; However, when food grains have sprouted, they bent down their head.[82]

Zaka Ullah felt the 'engrossment of the teacher of the things

otherworldly in worldly affairs' regrettable, because, 'the abandonment of the otherworldly purposes, and the engrossment within the worldly desires is the death of the heart of teacher' (*alim*). He said, 'When teachers of a community get very much engross within this world, there reform becomes extremely difficult'.[83] He said that the person who cautions others not to be inclined towards world and himself dies for it, his inspiration goes away from hearts quite as the drop of water slants down the stone. They preach God to others, but they have himself forgotten him.[84]

Zaka Ullah was very critical of teachers who only imparted knowledge and did not get involved in action. He explained the condition of teacher detached from action through the example of the relationship between 'the engineer and the labour'.[85] He cautioned the readers that 'Action without knowledge always creates more tumult instead of reform'.[86]

Since in Zaka Ullah's conception, teachers are seekers and promoters of knowledge, they are intellectuals. Hence, apart from teaching, their function is to tell the society what is right and what is wrong. However, teaching and academics had become such professions by Zaka Ullah's time wherein teachers and academics had become tied to institutions and networks that could have curtailed their autonomy of free expression of views. Therefore, he underlined the importance of criticism and the courage of intellectual to speak truth.[87]

Remembering perhaps the conventional stories of the pride of teachers in remaining free from the subjugation or influence of political authorities, Zaka Ullah asserted that 'Those teachers are worst who go to the king; and those kings are better who come to teachers'.[88] It also meant that if teacher has authority in whatever area of knowledge, and if state is in need of advice, let it approach the teacher itself rather than he being worried about building connection with the state. Asserting the need for intellectuals to maintain some distance from the State, which is also the modern notion of academic autonomy, Zaka Ullah further said, once again using a conventional trope: 'Whether wild elephants have ever allowed them to be tied with the lotus ropes' (Zaka Ullah, 1892A: 8).

Zaka Ulla's critique did not cover only the colonial teacher, but also included reflections on the teachers associated with alternative ventures, whether revivalist or modernists. For instance, one revivalist movement was started by a few *maulvies* (Islamic teachers) who established madarsas in places like Deoband, Delhi, Lahore, Bareli, Saharanpur, etc where old series of books were taught in the bygone fashion but the educational methods of English schools, time management and class system were imitated.[89] Zaka Ullah did not think this revivalist movement appropriate for contemporary times, because he believed that 'the world and the temperament of the world have changed.[90] On the other hand was the modernist movement for the foundation of smaller schools by Muslims exclusively for themselves through contributions where elementary education was provided in

English. According to Zaka Ullah, the condition of these schools was like the indigenous *maktabs* as these were based on personal effort of the founder or teacher. Zaka Ullah underlined various factors responsible for the failure of such institutions. More significant for our present theme is that he extensively underlined the deficient nature of the teachers who were often the founders of such schools as an essential factor responsible for their failure. If we believe him, often their teachers were those who remained unsuccessful in their own education; or who did not get government job due to some or other blemish of their own; or who were debarred from government employment due to their own follies.[91] Therefore, he was doubtful of the capacity of such teachers to teach students. Moreover, he pointed out that due to financial uncertainty, such teachers could not perform their work with confidence and rigor.[92]

Zaka Ullah also underlined the mistaken assumption that good teachers could be engaged on smaller salaries. He said that if somehow some unfortunate being is caught, neither he will not remain in employment for any longer; nor will he work with full attention. In his opinion, appointing pensioned teachers was also not a good option: 'The horses rejected by the postal services are not useful for horse rider either'.[93]

In addition to this vision, Zaka Ullah also presented a list of 'decorum's for teachers'.[94] Here, apart from laying emphasis on the virtues that could have resolved the above-listed ills of teacher practices, he also suggested that teacher should not demand wages for imparting knowledge; and should not cherish hope for any other returns. Neither should he desire appreciation; nor should he boast of the favours conferred by him on students. This idealised reference of Zaka Ullah to work without wages of course pushes us to ponder whether it was indirectly or in an attenuated form a call for the establishment of an alternative order? For, in Zaka Ullah's writings otherwise we predominantly observe the presence of the possibility of reform within the existing order instead of the Clarian call for a revolutionary transformation as such.

Further, even though this decorum could have been applicable on women teachers, their specific requirements and the agenda of female education were not part of it. It is despite the fact that Zaka Ullah had supported education of girls from the time when he was the Deputy Inspector of Schools in the city of Bulandshahar, district Muradabad in the North-Western Provinces. For this, he was even awarded with a *khillat* by the Government in 1860s. Later on, at the beginning of twentieth century, he decided to throw his own weight in support of Sheikh Ubaid Ullah's efforts for women's education in Aligarh and for the collection of donations for starting female Normal school for the training of women teachers.

Zaka Ullah perceived the hard persistence of early marriages to be a difficult impediment in female education, and therefore the need to do something for the continuance of their education irrespective of this

obstacle. He therefore sought the resolution of this problem through a certain kind of 'management of Normal School' wherein the female teachers (*ustaniyan*) were expected to teach to the eight-year-old girls 'some reading and writing of Urdu and some mathematics (*hisab*)' and thereafter 'impart such knowledge of morals which can make their (young girls') hearts believe that committing sin (*gunah* meaning illegitimate sexual intercourse here) is the entry in hell'.[95] Zaka Ullah hoped that 'after receiving this education through female teachers, even when girls are married, if their temperament is predisposed for studies, in whatever manner they want their educational merit, they would try to become their own teachers even without a teacher'.[96] Zaka Ullah's opening argument in support of training female teachers also rested on the need to avoid the involvement of males and thereby the prospects of their evil deeds in women education. Thus, in this conception of women's education, not only male teachers were disallowed to teach girls, female teachers were to be prepared who would in turn teach girls, not boys, to become good women and good Muslims. Further, this conception of education was limited to certain rudimentary elements and heavily influenced by the concerns of patriarchal family although it was hoped that on this basis, if really desired by particular woman, she would at her own explore further terrain of knowledge.

Zaka Ullah also examined the question of educational inequality of Muslims and also analyzed its relation with the aspect of teacher's agency. Instead of finding an isolated factor, he underlined the problems that existed for all and therefore affected Muslims as well as others. His critique of prevalent teacher practices affected the education of all children and particularly of those who were already backward and, in whose families, no one already attained modern education to help them. Zaka Ullah noted three complaints of government schools put forward by others, made his own counter arguments, and offered suggestions for their remedy, which could have benefited, not merely Muslim students, but others as well:

First complaint was that mostly teachers in such schools were Hindus and allegedly they were not affectionate with Muslim boys.[97]

Second complaint was that there were too many and therefore unmanageable number of students in these schools in comparison to available teachers. According to Zaka Ullah, the number of students in these schools was so much that a teacher could teach them only when he was well versed in pedagogy; otherwise, he would perform his work by appointing some monitors (*khalifa*). 'When such a teacher asked students to solve one mathematical problem, he would himself scrutinize answers of only a few (two-four) students; and would ask these monitors to correct answers written by other students.'[98]

Third complaint was that religious education was not provided in government schools.[99]

Zaka Ullah agreed with the contention of teachers' affectionate attitude

being an essential condition of education. Still, he disagreed with the first complaint concerning discriminatory attitude of Hindu teachers to Muslim students. Zaka Ullah said that whatever teacher spoke, all students heard it uniformly. Whatever he wrote on the blackboard, all students could see it in the same manner.[100] Here Zaka Ullah was perhaps missing the point, because, discrimination, and more importantly prejudicial mindset could be more delicate or subtle. Moreover, even Zaka Ullah himself recognized elsewhere in the same text[101] that this supposedly evenhanded approach of teacher, what Murdoch called the 'simultaneous mode'[102] would not lead to equal reception of contents given the differences of background and temperament of students.

Agreeing with the second complaint concerning the pupil–teacher ratio, Zaka Ullah also underlined how the problem was further aggravated by the fatigue of teachers due to their extra and private tuitions and their tendency to involve monitors in order to conduct teaching rather than interacting with each student directly. According to Zaka Ullah, it happened perhaps in all big cities that teachers of these schools often joined private jobs under the richer persons of the city and came to school after teaching their sons. Therefore, they were so exhausted that they taught nothing, only passed instructions for students to learn this or that.[103] Zaka Ullah further acknowledged that the impact of this scenario was likely to be lesser on those children in whose families some educated persons were already present[104] and by implication more on the first-generation learners.

However, in Zaka Ullah's opinion, the Local Boards could have resolved these problems. For instance, the Local Boards should make a rule that without its prior permission, no teacher can undertake any additional employment.[105] Further, Local Boards should provide two teachers wherever the number of boys (students) was found to be large.[106]

With regards to the complaint regarding the absence of religious education in government schools, it may be noted by way of background that Sir Sayyid Ahmad founded the Muhammadan Educational Conference in 1886 to solve Muslim educational problems in various provinces. Of course, he had before him the Aligarh College's model before him. The Conference laid emphasis on 'making government education more acceptable to Muslims and on increasing opportunities for them'. Therefore, the Conference passed many resolutions urging government 'to introduce religious education into primary schools and to give scholarships to Muslims seeking advance education in English'.[107] Sir Sayyid Ahmad invited Zaka Ullah to give a lecture in the Conference on the status of Muslim Education in the country. Zaka Ullah delivered it in 1889.

Within this lecture delivered at the Muhammadan Educational Conference,[108] Zaka Ullah agreed that specific teacher might be appointed to provide religious education before or after the regular school hours. In his view, even the officials of education department could not have raised

any objection to such an arrangement. He cited the example of Punjab where the government permitted religious education in government schools before the official study hours. However, at the same time, Zaka Ullah maintained that the best place for religious education is the family.[109]

In addition to the impact of the general causes mentioned above, Zaka Ullah also outlined one particular reason of the educational inequality of Muslims, namely, their inadequate representation amongst teachers and officials of Education Department. Instead of blaming any particular community for backwardness among Muslims, Zaka Ullah critically underlined the impact of colonial procedure of selection which leads to the reduction of the number of Muslim teachers or *muallims*.[110] It clearly hints towards his disillusionment with the evolving political-administrative order based on the fundamental unit of the individual without any regard for community concerns and therefore more favourable to the majoritarian interests.

Summing Up

Zaka Ullah's tirades were particularly ruthless against those teachers who were responsible for the teaching of the 'otherworldly' tenets. At one level, it was a critique of the model of Aided or Private institutions wherein religious education was imparted by those persons who are attracted to perform this work due to associated material benefits like salary. However, at another level, it appears that his critique did not exclusively target the modernist model of the dissemination of religious knowledge alone. Knowledge in general was conceived by him as an essential instrument for the realization of ultimate human objective of life both within this world as well as Hereafter. Hence, he thought that its transmission cannot be left to be determined solely by the material concerns of teacher, because, it required an inner urge. Therefore, he did not target educational system of any particular religious fold, (different sects of Hindus, Muslims, or Christian Missionaries etc.) for teaching the knowledge of 'hereafter' with the motivation of 'this worldly' objectives, rather presented it as a critique of the overall paradigm of teaching-learning. Zaka Ullah thought it to be a fundamental flaw in the system that teachers are made to provide knowledge, not because of an inner urge, but on consideration of material rewards like salary.

Therefore, at times it appears that the overall vision, the ideal, clearly noticeable in Zaka Ullah's writing on this issue was radically different from the model of teachers became established during colonial period, whether within government schools or in other variants that were prevalent in that era. However, Zaka Ullah did not make a clarion call to return to any kind of antiquity as such. Whilst mounting the critique of prevalent scenario, Zaka Ullah did not systematically dwell on the alternative, except pointing the decorum, which he expected teachers to maintain. He even

demonstrated serious concern regarding the salary and other service conditions of teacher. In fact, in Curzon's policy, he found vindication of many of his views on teacher training, their service condition, vernacular medium of school education, and priority to Elementary Education of masses over Higher Education of a select few.[11]

Nonetheless, in Zaka Ullah's critique of the prevalent teacher and in his portrayal of an ideal alternative, the influence of certain understanding of educational history of pre-modern period found clear resonance. Very often, he even reinforced the modern notions through traditional metaphors.

It could be therefore argued that whatever changes Zaka Ullah wanted to attain, he thought it possible to achieve them within the prevalent paradigm of modernity and Liberalism itself. The alternative and more plausible possibility could be that even though Zaka Ullah clang to a different paradigm of teaching, which was often reverberated in his writings, he thought it wise to make reformative suggestions only to the degree possible to realize within the prevalent system.

Yet, interestingly, the question of inequality, particularly those of poverty and affluence, first-generation learners and traditionally learned families, English and vernaculars, and Muslims with others appeared very frequently in Zaka Ullah's discussion of teacher practices and pedagogy. Of course, Zaka Ullah was closely associated with the Aligarh Movement, which had a specific focus with regard to higher education. However, with regard to school education, Zaka Ullah was in favour of finding solutions to the problems pertaining to teaching learning practices at the general structural levels of the public system. He clearly opposed special provisioning of schools for specific groups or communities, though on female education, this stand was compromised.

Zaka Ullah did not think that teachers intentionally discriminate against any student as such. However, He critically exposed those prevalent teacher practices, such as corporal punishment, promotion of rote learning, private tuitions, and involvement of monitors, which created problem for all students and particularly impacted upon first generation learners. Zaka Ullah maintained that these poor conditions of work and low moral standard particularly left negative impact on the first-generation learners coming from poor class or lower social stratum, because they did not have alternative support at home. Of course, for him, this included most of Muslim as well as Hindu children particularly coming from historically marginalized castes and classes.

Notes

1 I am thankful to Madhu Prasad for her comments on an earlier draft of the present paper; and to Prof. Ali Javed and Dr. Firdous Ali who helped during the larger study; but both of them are not with us now: shortcomings are entirely mine. I would like to also acknowledge with thanks following agencies whose financial support enabled me to conduct research on Zaka Ullah: German Historical Institute (London) and Charles Wallace Trust for India (London) in 2015; ICHR project during 2015–16; IoE grants from University of Delhi for 2020–2021 and 2021–2022.

2 Andrews, (1929); Hasan, (2005) and (2006); Hasan and Parnau, eds. (2003); Jamal, (1990) and (2004); Raza, (1967).

3 Jamal, (1990); (2004).

4 Ahmed, (1981); Hardy, (1972); Lelyveld, (1978); and Robinson, (1975) among others.

5 Robinson, (2020), pp. 85–130.

6 Jafri, (2006); (2020); (2021).

7 Dharmpal, (1983).

8 Jafri (2020); (2021).

9 Hunter, (1871).

10 Farooqui, (2021).

11 Robinson, (2020), pp. 88–92.

12 Jafri, (2020), p. 48.

13 Jafri, (2020), p 49, 14 Ibid.

15 Jafri, (2021), pp. 144–145, 16 Ibid, p. 146, 17 Ibid, p. 147–148.

18 Jafri, (2020), p. 49, 19 Ibid, 20 Ibid, p. 50, 21 Ibid, 22 Ibid, p. 51, 23 Ibid, p. 54, 24 Ibid, p. 59–64, 25 Ibid, p. 49.

26 Robinson, (2020), p. 105.

27 Robinson, (2020), p. 94, 28 Ibid, 29 Ibid, p. 99, 30 Ibid, pp. 111–112, 31 Ibid, pp. 93–94, 109, 32 Ibid, p. 115, 33 Ibid, p. 103.

34 King, (1994).

35 Robinson, (1975), 36.

36 Zaka Ullah, (1889), 69, 37 Ibid.

38 Dharmpal, (1983).

39 Jafri, (2020) and (2021).

40 Zaka Ullah, (1889), p. 70.

41 Zaka Ullah, (1889), p. 71.

42 Hunter, (1871), 43 Ibid, 44 Ibid, p. 178, 45 Ibid, 46 Ibid, 47 Ibid, p. 179, 48 Ibid, pp. 180–181, 49 Ibid, pp.182–183, 50 Ibid, p. 180, 51 Ibid, pp. 180–181.

52 Khan, (1869); and Croft, (1888).

53 Hardy, (1972); and Lelyveld, (1978).

54 Jafri, (2006), 55 Ibid.

56 Resolution signed by R.S. Ellis (Chief Secretary to the Government of India) and forwarded to Local Governments and Administrations and universities by E.C. Bayley (Secretary to the Government of India), in the Home (Education) Proceedings, Government of India, dated Simla, 7th August 1871, No. 300. Also available in the Educational Department Proceedings, Government of Madras, 21st August 1871, Progs. No. 55.

57 Resolution signed by A.C. Lyall (Secretary to the Government of India) in the Home (Education) Proceedings, Government of India, dated Simla, 13th June 1873, Progs. No. 7. Also available in the Educational Department Proceedings, Government of Madras, 4th July 1873, Progs. No. 13.

NON-INCLUSIVE PERSPECTIVE OF RTE ACT: AN EXAMPLE OF 'ADDITIVE' FRAMEWORK AND POLITICAL MANEUVERING

Dr. Vikas Gupta
Associate Professor
Department of History, Faculty of Social Sciences,
University of Delhi

The present paper critically examines the scope for equitable quality inclusive Elementary Education for children with disabilities in terms of the framework of the Right to Education Act (RTE Act) passed by the Indian Parliament in 2009.[1] It also contextualizes the provisions of the RTE Act with other disability law instruments available at that time both critically and constructively. The present paper argues that the RTE Act (2009) at best presents an 'additive framework', which may allow for drawing some inferences and making interpretations on the basis of already existing disability law instruments to construct a case for the right of disabled children, but it otherwise lacks the explicit details, safeguards and provisions necessary for their education. The present paper studies the events leading to the final enactment of this legislation to demonstrate how and why the political establishment compromised with the interests of disabled children.

It is expected that the paper will provide other researchers a framework to explore the present situation on the ground; and also the extent to which the Rights of Persons with Disabilities Act legislated by the Government of India in 2016 and the National Education Policy 2020 (NEP 2020) adopted by the Union Cabinet expand or curtail this scope.

The RTE Act (2009) as originally enacted had excluded disabled children from its definition of "disadvantaged group". [Section 2, clause (D).] Even its definition of disability was restricted to PWD Act (1995)[2], whilst the children with Autism, Cerebral Palsy, Mental Retardation and Multiple Disabilities are covered under the National Trust Act (1999).[3] [Section 3, subsection (2).] And in no other section or in the schedule—barring one undefined reference—specific concerns of disabled children were addressed.

Yet, no political representative raised any questions about these lacunas or any other matter concerning the education of disabled children in the debate on RTE Bill in Rajya Sabha, except one member, whose intervention unfortunately failed to win any support from her

counterparts. She underlined a lacuna in the bill, where it states that the children will not be denied admission on account of any disability, but it fails to acknowledge the additional facilities.[4] (We shall elaborate this point in the present paper.)

Nevertheless, following criticism from civil society organizations, disabled children (including children with Autism, Cerebral Palsy and Mental Retardation) were finally given place in the category of "disadvantaged group" and the definition of disability was also broadened to make it inclusive of severely disabled children through an amendment in the RTE Act in 2010.[5] Still, the term inclusive education appears nowhere in the RTE Act (2009) as finally published in the Gazette; and only once in the third last point of the "Statement of Objects and Reasons" upended to the bill tabled in Rajya Sabha. Surely this is not a matter to be reduced to mere presence/absence of one particular term. Nevertheless, interpreting the initial dismissal of disadvantaged status of disabled, adoption of a restricted definition of disability and the dearth of explicit provisions for their education in the RTE Act as an obvious 'oversight'; and subsequent restoration of disadvantaged status and broadening of the definition of disability through an amendment as an 'afterthought' could be, at best one particular kind of reading alone. Otherwise, the issue of the education of disabled children had become a part of formal deliberations in the period immediately preceding the passing of RTE Act making it difficult to maintain that it could have been an 'oversight' or an 'afterthought'. On the contrary, I argue that it was a deliberate tactic of political arithmetic and maneuver: intentional/conscious decision of initial exclusion and subsequent inclusion; a political plot in which even the leadership of disability rights movement in India (by and large middle and upper class in nature) got trapped. The interests of disabled children were compromised in the RTE Act (2009) only to be somewhat recognized later through the RTE Amendment Act (2010), which kept the overall framework hardly responsive to disability perspective. This stand was possibly adopted because of absence of a political will to provide adequate financial allocation. It could have also been motivated by the desire to save private institutions from binding obligation of admitting disabled children, because the recognition of their disadvantaged status would have automatically included them in the 25 percent quota of free seats in the schools under private management.

To begin with, the government had formed a core group to prepare a Draft of the Action Plan for Inclusive Education of Children and Youth with Disabilities. While speaking about this Action Plan (IECYD 2005) in Rajya Sabha on 23rd March 2005, then Human Resource Development Minister Arjun Singh promised to make every school disabled friendly by

2020, which included barrier free access to all educational institutions (hostels, libraries and laboratories) and provision for a wide range of facilities for providing accessible study material and learning environment.[6] Subsequently, on August 20, 2005, this action plan was released for public feedback, which precisely defined inclusive education along with its vision (also involving community and preschool education).[7] However in reality no financial allocation was made; and nothing of this was readable in the RTE Act (2009) either.

Similarly, the draft of the Right to Free and Compulsory Education Bill (2005) explicitly included disabled in the category of children belonging to disadvantaged section and also covered severely disabled in the definition as well as in other provisions. It further provided that the age-appropriate grade for children suffering from mental retardation or mental illness shall be determined keeping in view their mental development also, and not on the basis of their biological age alone.[8] Even these provisions were dropped in the final RTE act as passed by the Parliament in 2009.

Based on this 2005 draft of right to education,[9], National Institute (now University) of Educational Planning and Administration (NIEPA, now NUEPA) had even calculated the per child cost of education for disabled children in both regular schools as well as in home-based education. It had estimated the cost of education of children with special needs in regular schools (2.7 % of all children) @ Rs. 2000 per child per annum and the home-based education for children with severe disability (0.3 % of children) @ Rs. 50000 per child per annum including teacher cost. Thus, it had calculated total Rs. 31922 crores for the education of disabled children for 5 years from 2006-7 to 2011-12, (or 6,020 crores per annum)–Rs. 8130.08 crores for integrated education and Rs. 23791.52 crores for home-based education for the severely disabled.[10]

The idea of home-based education is no doubt another exclusionary tactic because of a variety of reasons, such as the absence of a clear practical distinction between disabled and a severe disabled (notwithstanding a very technical medical definition);[11] incongruity of this idea with the real need of visibility of such children in public life; and its nonconformity to the promise of equitable quality education. Besides this, NIEPA estimates of expenditure for the education of disabled children in the mainstream were also very poor as they did not include the money to be spent on the conversion of inaccessible school buildings to disabled friendly ones; providing Braille and sign language instructors and disability resource centers and learning material in accessible formats. We do not know whether these issues were taken

account of in the calculations, but if we include these aspects, the estimated expenditure could not have remained so miserable. In the period immediately preceding the enactment of RTE Act, the issue of disability had become a part of formal deliberations, marked by some inclusive and some exclusionary propositions; and above all by the desire to keep education under-funded.

In the above mentioned annexure, NIEPA had suggested four alternative scenarios and accordingly four different financial estimates for the implementation of RTE Act over a period of five years. The first and the best scenario having the highest figure of Rs. 436459 crores were also approved by Cabe Committee and the lowest figure in the last scenario was Rs. 321196 crores. The Government had decided to work not even with this lowest figure suggested by NIEPA therein or other more conservative figures of Rs. 171000 crores. Instead, the Union Government had allocated annual outlays of only Rs. 15,000 crores in the financial year 2010-11 and Rs. 21,000 crores in 2011-12 for elementary education leaving rest of the cost therefore to be borne by states.[12] Hence, the Government chose to work with the figures that were much lower than even the most conservative estimates for elementary education in order to keep education underfunded. How could have it led to real inclusion of children so far left out or dropped out of school education?

156 / 548

The task of ensuring that the legislation of RTE Act does not lead to complete overhauling of education system and averts major shuffling in the financial allocation to various sectors took about three years for the Government. In this process, following the same fiscal logic, the Government also removed disability from the category of disadvantaged section requiring otherwise special treatment under various provisions of the draft bills on RTE and severely disabled supposedly requiring home-based education or adequate support in the regular school. Even then, the gap between possible allocation and the estimated expenditure was huge and a clear framework of partnership between center and the states was also missing. Therefore, the Government finally passed the RTE Act (2009) without any financial memorandum.

It is also worth noting that the premier national institutions for disabled and their leading organizations were not represented in the official deliberations on RTE Act. Nevertheless, Late Mr. Javed Abidi and Dr. Mithu Alur had participated in the meetings of the Central Advisory Board for Education (CABE) Committee on RTE Bill. Dr. Alur submitted at least

two representations to this Committee,[13] but her plea to make adequate financial allocations for the education of disabled in the mainstream were rather easily sidelined.

It should not have been difficult (rather obvious) for the Government to anticipate that the disability rights groups would lobby for their interests, which they did as well. Therefore, in order to dissuade them, their disadvantaged status was then restored through a limited amendment in the RTE Act as a negotiable point without making other necessary changes therein. In fact, Government's farsightedness was really commendable, because disability rights groups actually behaved only to confirm already anticipated manner of their action. They were fairly satisfied with the restoration of disadvantaged status and somewhat broadening of the definition of disability without struggling for other changes in the draft. This amendment implied that now disabled children would get admission in private schools under 25 percent quota for disadvantaged groups. The stand of the champions of the rights of disabled persons might be comprehended with reference to the by and large middle or upper class nature of the disability rights movement in India.

Another reason why inclusive education received such a cold treatment in the RTE Act lies in Government's deliberate and self-perpetuated fantasy that the question of the education of disabled children could be resolved within already existing legal provisions; and particularly under the framework provided by fifteen year old PWD Act (1995) in complete disregard of many later policies and enactments. Therefore, the RTE Act merely states that a child suffering from disability, as defined in clause (I) of section 2 of the PWD Act, 1996, shall have the right to pursue free and compulsory elementary education in accordance with the provisions of Chapter V of the said Act (Section 3, subsection (3)). Despite amendment to include disabled in the category of disadvantaged and to include severely disabled children in the ambit of the RTE Act, the overall framework still remained the same.[14]

Although, the PWD Act was a milestone in its own right, particularly as the first legal instrument to protect the rights of disabled in the country, many issues emerged subsequent to its enactment. For instance, it was argued that since the PWD Act provided medical definition of impairments, it was incapable of covering all kinds of disabilities.[15] Therefore, civil society organizations, and various ministries and departments of Government had already suggested a very large number of amendments in the PWD act (1995), but without first carrying out these, the Government decided to draw up on the legal framework of this Act for drafting RTE Act. Even a cursory glance at suggestions in the PWD act (1995), such as part-

time classes, non-formal education and open schools for children with special needs belie the thrust on equitable quality inclusive education.[16]

Similarly, though we might like to liberally interpret the emphasis on accessible education in Chapter V to imply for sign language interpreters, the PWD Act otherwise nowhere explicitly provided for it. On the other hand, the National Policy for Persons with Disabilities (NPPD, 2006) had already stated that sign language will be recognized as a viable medium in inter personal communication and its use in all public functions will be encouraged. This statement about sign language was made in the articles dealing with education and "barrier free environment".[17] Besides this, the framers of RTE Act (2009) could have relied upon United Nations Convention on the Rights of Persons with Disabilities (UNCRPD, 2007), which had already provided in unequivocal terms that "Language" includes spoken and signed languages and other forms of non-spoken languages;[18] and which also advocated the appointment of qualified teachers in sign language.[19]

Though our Union Government was involved in the deliberations on UNCRPD since 2002 and therefore very much aware about better ways of defining disability and about the latest concerns, issues and perspectives of disability rights—as somewhat reflected in NPPD (2006)—yet, the framers of RTE Act restricted themselves to the provisions of PWD Act (1995). Even the Rules framed by Union or state Governments for the implementation of RTE Act did not make any reference to the Rehabilitation Council of India Act (RCI Act, 1992); The National Trust for the Welfare of Persons with Autism, Cerebral Palsy, Mental Retardation and Multiple Disabilities Act, (NTA, 1999); National Policy for Persons with Disabilities (NPPD, 2006); and United Nations Convention for the Rights of Persons with Disabilities (UNCRPD, 2007). We only find one reference to UNCRPD in Ashok Agarwal Committee.[20]

The RTE Act (2009) directs the appropriate academic authority to take into consideration while laying down the curriculum and the evaluation procedure that "medium of instructions shall, as far as practicable, be in child's mother tongue". [Section 29, subsection (2), clause (F).] Here scholars have seen the possibilities of demanding for sign language as the mother tongue of the hearing-impaired child. They also connect it with article 29 of the Indian constitution about linguistic minorities.[21]

However, without making an explicit provision for sign language in unambiguous terms in the RTE Act (2009) or in the schedule in the Indian Constitution through an amendment, the

foundation and sanctity of this interpretation would principally remain politically and legally less transient. Moreover, the conditionality imposed under this section of the RTE Act (2009) in the form of the words "as far as possible" may always be used as a pretext for the failure to provide sign language support. Therefore, here our point is that an approach restricted to the framework of PWD Act (1995) and more importantly the consequent neglect of later developments while formulating the RTE Act (2009) muddled various issues affecting disabled persons, for example the uncertainty that prevails regarding the provision for sign language as the medium of education in this legislation.

Under the RTE Act (2009) not merely the schools to be established in future, even the already recognized Private or Aided institutions are required to comply with the norms and standards specified in the Schedule. [Section 18, subsections (1) and (2); and section 19, subsection (1).] Accordingly, under the RTE (Rules) framed by Union as well as state Governments, all Private and Aided schools have been asked to self-declare on the prescribed format their compliance/non-compliance with the norms prescribed in the Schedule within three months in order to obtain the recognition certificate under the RTE Act within six months from the date of such notification. These provisions should mean for disabled children that the appropriate Government shall not allow Aided and Private schools to be recognized and function if they do not fulfill the requirement of "barrier free access" as prescribed in the schedule. However, not a single section of RTE Act (2009) makes it unambiguously mandatory for the schools already established, owned or controlled by appropriate Governments or local authorities to comply with the norms and standards specified in the Schedule within a time-bound manner. On the contrary, these are explicitly excluded in section 18 (1); (in fact, entire section eighteen and 19 are concerned with the recognition procedure to be followed for Private and Aided Schools); and Section 8 (G) and 9 (H) also do not make any such provision for such schools.[22] Only in this context of laying down the procedure and rules for recognition of Private and Aided schools, the RTE Act (2009) provides for time bound compliance with norms and standards specified in the Schedule as a mandatory condition for such institutions.

159 / 548

However, an alternative (liberal) interpretation of the RTE Act based on reading of silences could be that the norms and standards prescribed in the Schedule are binding for every school, because as distinct from section 18 of the RTE Act, the Schedule does not make any exceptions. Even the bare fact that the Schedule is annexed with the RTE Act implies—if seen in context of the spirit with which this Act has been legislated—that it is binding on

every school. It can also be argued that for good quality education, compliance with the Schedule is essential for every school and that there should be parity amongst Government, Aided and Unaided Private Schools, otherwise it would amount to the violation of Article 14 of Indian Constitution. Yet, the point underscored so far in this section is that such a line of reasoning would be an exceptionally liberal interpretation of the Act, otherwise a close reading of the sections cited above allows constructing an altogether different case.

Neither the RTE Act nor the Rules framed for its implementation (for better or worse) provide a definition of the term "barrier free access"; and thus, left it open for varying interpretations. The instruments of seeking recognition under RTE Act (2009) require from schools to make self-declaration about the availability of various facilities. These instruments also ask whether all facilities have "barrier free access". Howeve
160 / 548
infrastructural and other facilities required for disabled children, eve
together in an undefined and all encompassing term, "barrier free access". In other words, the formats of self declaration by schools and grant of recognition by the appropriate authority do not endeavor to ascertain and emphasize details like the number of accessible toilets; scheme for providing teaching learning and library material in accessible format; arrangements for disabled friendly sport equipment and playground. Therefore, with the view to keep the accessibility requirements at bay, schools have been at best taking only some measures, for instance, constructing ramps at the entry/exit points. Thus, they indicate compliance with the norm of "barrier free access" without making other necessary provisions and alterations, because this term is not defined and elaborated in the RTE Act and model rules adopted for its implementation.

UNCRPD assigns the responsibility on state parties to ensure provision of Effective individualized support measures in environments that maximize academic and social development, consistent with the goal of full inclusion.[23] Similarly, the RTE Act (2009) provides that it is one of the duties of the teacher to assess the learning ability of each child and accordingly supplement additional instructions if required. [Section 24, subsection (1), clause (D).] Yet, for various reasons, it is unclear how much support for disabled students may come from teachers following the implementation of the RTE Act (2009). For instance, though RTE Act (2009)provides in the Schedule part time instructors for Art Education, Health and Physical Education and Work Education, it nowhere mention disability resource persons, Braille teachers, sign language interpreters, escorts for high support needs children, accessible computer labs with trained teacher and necessary software and so on, which are

essential requirements for the education of disabled students; and which are otherwise recognized by other disability law instruments.[24] The Schedule already prescribes for limited number of teachers; and therefore, it may not be practically feasible to demand one of these teachers to be a special educator–at times we may need even more. Moreover, this issue is also linked with the aspect of the supply of Braille teachers, sign language interpreters and other disability resource persons, which would require making these skills essential components of pre-service training course for every trainee. But this is not possible until we make teacher training more rigorous, an issue on which the RTE Act provides no precise solution apart from suggesting that to be prescribed by an academic body notified by the appropriate Government. Besides this, the RTE Act has legitimized the deployment of teachers on various non-teaching tasks, such as decennial population census, disaster relief duties or duties relating to elections without even specifying about the last one that it should mean only their deployment on the day of poling?[25] Here it is noteworthy that these provisions do not make an exception of Braille teachers, sign-language interpreters and resource persons regularly required by disabled students, which is quite obvious, because neither such students nor their teachers/resource persons were kept in picture while formulating these norms. The RTE Act (2009) empowers the SMCs to ensure that the teachers are not burdened with non-teaching tasks other than those prescribed thereunder. Yet the Schedule attached with the RTE Act is silent on the issue of non-teaching staff and there is no financial estimate for making alternative arrangements for these non-teaching functions. In the light of these limitations, one really wonders how the RTE Act could have marked a momentous departure leading to individualized attention of teacher for students including the disabled children?

161 / 548

The definition of child in the RTE Act as a male or female child of the age of six to fourteen years is incompatible with PWD Act,[26] NPPD[27] and United Nations Convention on the Rights of Child (1990).[28] [Section 2, clause (c).] All these instruments define child as male or female up to the age of 18.

The RTE Act does not consign a mandatory responsibility on appropriate Governments and local authorities to make preschool education accessible to every child of the relevant age group within a specified period. It only lays down a directive principle for appropriate Governments to make provisions for preschool education. The term used in this regard is "may", not "will" in this act.[29]

Earlier enactments, for example PWD Acct (1995) provided for free education of all children with disability till they attain the age of eighteen.[30] In the PWD Act (1995), unlike the RTE Act, the point of commencement of education was not specified. It should be therefore a justifiable interpretation to cover entire education—including preschool education—of disabled children up to the age of 18 within the ambit of the provisions of PWD Act. Otherwise, it would have been emphatically stated that the education of disabled children implies education of 12 years from the age of 6 to 18. The PWD Act even envisaged the crucial role of pre-school education and Anganwadis in creating awareness and preventing occurrence of disabilities.[31]

It might be interesting to end with an exemplary citation from the NPPD with targets to be achieved by 2020 while we are already in 2022. It provided that Human resources will be trained to meet the requirement of preschool education for children with disabilities and it promised to ensure that every such child has access to appropriate pre-school education by 2020.[32] It further assured that children with disabilities up to the age of 6 years will be identified and necessary interventions made so that they are capable of joining inclusive education.[33] Here, besides a deadline—although frustratingly longer—the connection of preschool education with inclusive education to be commenced from the age of 6 (which is a fundamental right) is established in quite unambiguous terms. However, I have shown it elsewhere how progress in this direction is still very frustrating.[34]

162 / 548

Notes and References

1 The Right of Children for Free and Compulsory Education Act, Government of India, 2009. Hereafter–RTE Act.

2 The Persons with Disabilities (Equal Opportunities, Protection of Rights and Full Participation) Act, Government of India, 1995. Hereinafter, PWD Act.

3 National Trust Act (NTA), Government of India, 1999. Hereinafter, NTA, 1999.

4 Synopsis of the Rajya Sabha debate on RTE bill July 20, 2009. http://righttoeducation.in/sites/default/files/legislation/rajya_sabha_discussion_synopsis_20July09.pdf

5 Right of Children to Free and Compulsory Education (Amendment) Act (RTE Amendment Act), Government of India, 2010.

6 http://www.education.nic.in/INCLUSIVE.asp#Statement Of Minister Of Human Resource Development In The Rajya Sabha On 21/3/05

7 http://www.education.nic.in/INCLUSIVE.asp#INCLUSIVE EDUCATION

8 draft of the Right to Free and Compulsory Education Bill, 2005, Section 2, subsection (1), clause (k); and Section 3, subsection (1) read with Explanation for this Para in Right to Education Bill (RTE Bill), Government of India, 2005.

9 Ibid.

[10] See the document on financial estimates for the implementation of RTE Bill from 2006-07 to 2011-12, prepared by National Institute of Educational Planning and Administration (NIEPA) annexed with the Report of Central Advisory Board of Education (CABE) Committee on Free and Compulsory Education Bill (2005). Especially see, Section 4, 'Specific Norms and Unit Costs' and Tables 3.3 and 3.4.

[11] NTA, 1999 defines in Section 2, Clause O, severely disabled persons as having disability with eighty percent or more of one or more multiple disabilities.

[12] Jandhyala B.G. Tilak, 'Education in the Union budget', *The Hindu*, (Saturday, March) 06/03/2010; http://www.hindu.com/2010/03/06/stories/2010030650631300.htm
Vinod Raina, 'Making the right to education real', *Indian Express*, (Saturday, March), 2010; http://www.indianexpress.com/news/making-the-right-to-education-real/587507/index.html
and also see–http://www.igovernment.in/site/education-gets-24-hike-budget-allocation-39362

[13] Dr. Mithu Alur, Founder Chairperson, National Resource Centre for Inclusion, Member, CABE Committee on RTE submitted two representations dated 13.09.2005 and 07.12.2006 in the Cabe Committee.

[14] RTE (Amendment) Act, 2010.

[15] Jayna Kothari, 'The UN Convention on Rights of Persons with Disabilities: An Engine for Law Reform in India', *EPW*, Vol. xlv, No 18, (May 1), 2010, pp 645-72; and also see the Draft of Right of Persons with Disability Act 2011.

[16] Anita Ghai, 'Gender and Inclusive Education. : A Re-look at Kothari Commission', Paper (unpublished) presented at the National Seminar on the Education Commission: Revisiting the Commission's Premises, Vision and Impact on policy Formulation, organized by National Institute of Educational planning and administration.

[17] NPPD, 2006, Section 48, clause (VI) and section 51, clause (II).

[18] UNCRPD, (2007), article 2.

[19] UNCRPD, (2007), Article 21, clause (E.) and Article 24, section (3), clause (b) and Section (4)

[20] Report of the Committee on Development of a Policy Framework for Implementation of the Right of Children for Free and Compulsory Education Act in Schools in NCT of Delhi, March 3, 2010, states in section 1, subsection 1, clause e. that The needs of children with disabilities will need to be addressed through inclusive classrooms in accordance with the provisions laid down in Article 24 of the UN Convention on the Rights of the Persons with Disabilities (2008) as ratified by the Government of India. This is the only reference to UNCRPD in the entire discourse on Right to Education.

163 / 548

[21] Tanmoy Bhattacharya, "Re-examining Issue of Inclusion in Education", EPW, Vol. xlv, No. 16, (April 17), 2010, pp 18-25.

[22] Despite Ashok Agarwal's positive response, the question itself is indicative of the doubt that prevails on this issue. See the Interview with Senior Advocate Ashok Agarwal by T.K. Rajalakshmi, Frontline, (July 15th), 2011, pp 16-17.

[23] UNCRPD, (2007), article 24, subsection 2, clause (E).

[24] RCI Act (1992) governs the qualifications of special educators. Besides this, other relevant provisions may be seen in the PWD Act (1995), section 29; NPPD (2006), sections 46 and 48, clause (III) and (IV); and UNCRPD (2007), article 24, section (4).

[25] RTE Act, 2009, Section 26.

[26] PWD Act (1995) provides that the appropriate Governments and the local authorities shall ensure that "every child with a disability has access to free education in an appropriate environment till he attains the age of eighteen years". PWD Act, (1995), section 26, subsection (A.).

[27] NPPD (2006) states in article 20: "In keeping with the spirit of the Article 21A of the Constitution guaranteeing education as a fundamental right and Section 26 of the Persons with Disabilities Act, 1995, free and compulsory education has to be provided to all children with disabilities up to the minimum age of 18 years".

[28] United Nations Convention on the Rights of Child, 1990, section 1. India is a signatory to this convention.

[29] RTE Act, 2009, Section 11.

[30] PWD Act (1995), section 26, clause (I.)

[31] PWD Act (1995), Section 25. Clause (G.).

[32] NPPD (2006), sections 46 and 48.

[33] NPPD (2006), section 48, clause (xv)

[34] Vikas Gupta, 'Some Aspects of the Rights and Laws of Disabled Persons i Inclusive, Vol. 1, No. 15, (July), 2019; and Vikas Gupta, 'Some Perspecti n India', in Vikas Gupta, Rama Kant Agnihotri & Minati Panda (Eds.), *Education Trajectories and Contemporary Challenges,* Orient Blackswan, 2021, pp. 3-86.

164 / 548

ISBN : 978-81-936387-8-1

Annexure II C

286

मंथन

(सार्वजनिक शिक्षा)

सम्पादक- संजय गुरुरानी

जिला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान, बागेश्वर

Scanned with CamScanner

शिक्षा का अधिकार कानून, वर्तमान चुनौतियाँ, ऐतिहासिक सन्दर्भ और विकल्प

डॉ विकास गुप्ता
दिल्ली विश्वविद्यालय

आभार

DIET (बागेश्वर,उत्तराखंड) में 14-15 नवंबर 2018 को हुए सेमिनार के उदघाटन सत्र में मेरे द्वारा दिए गए व्याख्यान पर आधारित इस लेख के आरम्भ में ही मैं आभार स्वरुप यह स्पष्ट करना चाहूँगा की सदन में इस पर हुई लम्बी चर्चा में उठे तमाम सवालों, टिप्पणियों और उनपर मेरे जवाबों को अलग से परिशिष्ट में देने की बजाए, मैंने उन्हें इस निबंध के वर्तमान स्वरुप में ही उचित जगहों पर जोड़ लिया है। इससे वर्तमान लेख और समृद्ध व विस्तृत हो गया है। इस के लिए मैं सेमीनार के आयोजकों, खासकर प्राचार्य श्री डॉक्टर धपोला के अलावा चर्चा में भाग लेने वाले सभी साथियों का शुक्रगुज़ार हूँ। यह लेख व्याख्यान के रिकॉर्डिंग की ट्रांसक्रिप्ट के आधार पर लिखा गया है। लेख के इस प्रकाशित स्वरुप में भी, इसकी शैली को बातचीत आधारित ही बनाए रखने की पूरी कोशिश की गई है।

भूमिका

इस लेख में हम इस बात की समीक्षा करेंगे की शिक्षा अधिकार क़ानून (2009) के पारित होने के बाद सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था की ज़मीनी हालत में क्या कोई ऐसे सकारात्मक बुनियादी बदलाव हुए हैं जैसे शिक्षा को एक मौलिक अधिकार के रूप में स्वीकार करने के बाद होने चाहिए। इस लेख में यदि हम यह देखेंगे की मौजूदा चुनौतियों से निपटने के लिए यह क़ानून कितना कमज़ोर दिखता है और कैसे इसने कई समस्याओं को तो और भी ज़्यादा बढ़ा दिया है, तो हम इस बात की पड़ताल भी करेंगे की इसमें मौजूदा स्थितियों में बदलाव लाने की क्या संभावनाएं निहित हो सकती हैं। कौनसी मुख्य चुनौतियां आज हमारे सामने हैं? मौजूदा स्थितियों के लिए हम किन कारणों को ज़िम्मेदार मान सकते हैं? लेकिन यहां यह स्पष्ट करना भी बहुत ज़रूरी है की इस हालत के लिए अनेक कारण ज़िम्मेदार हो सकते हैं। हम उनमें से कुछ कारणों की चर्चा ही यहां करेंगे। ये वो कारण हैं जो शिक्षा की वर्तमान 'राजनैतिक-अर्थव्यवस्था' के खाखे (model) या स्वरुप को दिखाते हैं और किस तरह उसका असर स्कूलों के आन्तरिक क्रियाकलापों, शैक्षिक ज्ञान के चरित्र, शिक्षकों, विद्यार्थियों और शिक्षा के उद्देश्यों पर पढता है। इस सन्दर्भ में, हम केवल वर्तमान नीतियों और हमारे देश की स्थिति की चर्चा ही नहीं करेंगे, बल्कि कई ऐतिहासिक घटनाओं व अंतरराष्ट्रीय उदाहरणों का ज़िक्र भी करेंगे जिससे संभावित विकल्पों की चर्चा भी हो सके।

Scanned with CamScanner

1 शिक्षा अधिकार क़ानून की संक्षिप्त ऐतिहासिक रूपरेखा

शिक्षा के एक मौलिक अधिकार के रूप में स्वीकार किये जाने के टेढ़े-मेढ़े इतिहास को समझने के लिए यह ज़रूरी है की हम पहले राष्ट्र-राज्य द्वारा सभी बच्चों को समान सार्वजनिक शिक्षा की व्यवस्थाओं की शुरुआत को समझें। पश्चिमी देशों में 18वी सदी के अंतिम दशक और 19वी सदी के आरम्भ से, मतलब आधुनिक राष्ट्र-राज्यों के उदित होने की प्रक्रिया के साथ ही शिक्षा की नई किस्म की सार्वजनिक व्यवस्था कायम होना शुरू हो गया था। अब सामाजिक-धार्मिक संस्थाओं की बजाए, राज्य से सभी लोगों के लिए पढ़ाई के इंतज़ाम करने के लिए ज़िम्मेदार माना जाने लगा था।

यह दूसरी बात है की इन विभिन्न देशों ने शिक्षा के क्षेत्र में राज्य व धार्मिक संस्थाओं के रिश्तों को अलग-अलग तरह से सुलझाने की कोशिश की। यह माना जाने लगा था की राज्य की ज़िम्मेदारी सभी को बिना किसी धार्मिक भेद भाव के शिक्षा प्रदान करना है। कहीं राज्य ने धार्मिक संस्थाओं को औपचारिक शिक्षा से पूरी तरह बेदखल करने की नीति अपनाई, तो कहीं विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों को सार्वजनिक व्यवस्था में ही स्थान दे दिया गया, तो कहीं राज्य ने उन्हें अपने अलग शिक्षा संस्थान खोलने और राज्य से आर्थिक सहायता प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया।

इन देशों ने से कुछ ने, वहां के सामाजिक वर्गीकरण के अनुरूप, स्कूली व्यवस्था में अलग-अलग विद्यार्थियों के लिए विशेष स्कूलों की श्रेणियां या परतें ज़्यादा थी तो कुछ में बहुत कम। लेकिन औपचारिक वैधानिक दिशा और सरकारी घोषणाओं में शिक्षा में किसी भी किस्म के भेदभाव को उचित ठहराना अब पहले की तुलना में मुश्किल बन गया था। आगे चलकर, जैसे-जैसे 19वी सदी के अंत और 20वी सदी के आरम्भ के साथ, तमाम जन-आन्दोलनों के फल स्वरुप प्रतिनिधियात्मक चुनावी राजनीति का सार्वभौमिक मताधिकार की तरफ विस्तार हुआ, गैर-बराबरी को उचित ठहराना और भी मुश्किल बन गया।

तमाम फर्कों के बावजूद, इन सभी तरह की व्यवस्थाओं में, अब राज्य की भूमिका इतिहास के किसी भी अन्य दौर की तुलना में बहुत बढ़ गई। इन सरकारों ने अनिवार्य मुफ्त आरंभिक शिक्षा के अधिनियम भी पारित किये। यह सब बताने का यह मतलब बिलकुल नहीं है की इन सभी देशों ने सबको शिक्षा दे दी और सभी तरह के भेद भाव मिट गए। फिर भी यह एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक पड़ाव था।

यह भी याद रहे की आज की दुनिया के सभी विकसित देशों ने शिक्षा में निवेश उस समय किया जब वे विकसित नहीं, बल्कि विकासशील हो रहे थे। उनमें से किसी का भी मॉडल पूरी तरह से ठीक नहीं था। इसके अलावा उसे भारतीय सन्दर्भ में ढालना भी पड़ेगा। लेकिन उसे पूरी तरह से अस्वीकार करना भी ठीक नहीं होगा। इन देशों ने सब बच्चों के लिए अलग-अलग तरीकों से सही सरकार के द्वारा ही शिक्षा का इंतज़ाम किया। जर्मनी में आज भी फीस नाम का कोई जर्मन शब्द नहीं मिलेगा।

दरअसल, पूंजीवाद में शुरु से ही शिक्षा को राज्य की ही ज़िम्मेदारी माना गया था। यहां तक की पूँजीवाद के आरंभिक व सबसे महत्वपूर्ण चिंतक Adam Smith ने अपनी किताब Wealth of Nations (1776) में शिक्षा को राज्य की ही ज़िम्मेदारी बताया था।

इंग्लैंड जहां स्कूली व्यवस्था में विभेदीकरण अमेरिका से काफी ज़्यादा था, वहां भी देश के कई इलाकों में 1920 के दशक में comprehensive schools की शुरुआत हुई। लेकिन आज दे व्यवस्थाएं भी खतरे में हैं।

हालांकि भारत में भी 19वी शताब्दी के उत्तरार्ध से ही आरंभिक शिक्षा को मुफ्त व अनिवार्य बनाने की मांग कई लोगों के द्वारा उठाई जाने लगी थी। इसमें बॉम्बे प्रेसीडेंसी के राजस्व विभाग के एक अंग्रेज़ अफसर विंगइट्स से लेकर ब्राह्मणवाद और पितृसता विरोधी जोतीराव फूले और अंग्रेज़ी शासन की आर्थिक नीतियों की सख्त आलोचना करनेवाले दादा भाई नौरोजी भी शामिल थे। लेकिन अंग्रेज़ी सरकार ने इस मांग को लगातार नज़रअंदाज़ किया। आर्थिक संसाधनों की कमी के अलावा, सरकार ने यह भी आमक दावा किया की ज़्यादातर लोग शिक्षा के प्रति उदासीन हैं। जब तक स्थानीय स्तर पर मांग पैदा न हो जाए, तब तक इस दिशा में कदम नहीं उठाया जा सकता।

इस समय के बारे में यह भी याद रखना ज़रूरी है की रूढिवादियों ने अक्सर सरकारी संस्थानों में पिछड़ी जातियों के विद्यार्थियों और लड़कियों की पढ़ाई का विरोध किया और आम तौर पर सरकार ने समझौतावादी रवैया ही प्रदर्शित किया। इन रूढ़ीवादी लोगों ने तब भी रोड़े अटकाए जब पिछड़ी जातियों और लड़कियों के लिए अलग संस्थानों में शिक्षा का इंतज़ाम प्रगतिशील लोगों या पिछड़े वर्गों के लोगों के द्वारा स्वयं ही किया गया।

दूसरी तरफ हम यह भी देखते हैं की 19वी सदी के अंत और 20वी सदी के आरम्भ से, कोल्हापुर और बड़ौदा की रियासतों ने सभी बच्चों को, खासकर पिछड़े वर्गों को आरंभिक शिक्षा मुहैया करवाने की दिशा में ठोस व सफल कदम उठाए। यानी असली मामला तो राजनैतिक कटिबद्धता के अभाव का था। मांग व संसाधनों की कमी तो सिर्फ बहाने थे। सरकार इतनी ताकतवर तो थी की यदि चाह ले तो रूढ़ीवादियों को शांत भी कर सकती थी ठीक उसी तरह जैसे वह अन्य शोषणकारी कानूनों के जाइज़ विरोध को दबा देती थी। इसके ठीक उलट, सरकार ने सभी धर्मों, जातियों, वर्गों, भाषाओं, लिंगों, नस्लों और तथाकथित शारीरिक/मानसिक क्षमताओं के लोगों के लिए अलग-अलग शिक्षा संस्थान खोले, या उन्हें आर्थिक मदद और मान्यता देकर बढ़ावा दिया।

अंग्रेजी शासन के दौरान अनेकों प्रकार के शिक्षा संस्थान खुले। यह मुख्यतः चार प्रकार की व्यवस्थाओं के अंतर्गत श्रेणीबद्ध किये जा सकते हैं: सरकारी या स्थानीय निकायों के द्वारा स्थापित शिक्षा संस्थान; सरकार से आर्थिक सहायता पानेवाले गैर सरकारी संस्थान; सरकार से कोई आर्थिक सहायता न लेने वाले प्राइवेट लेकिन मान्यता प्राप्त संस्थान; और सरकार से कोई सहायता ना लेनेवाले गैर-मान्यता प्राप्त प्राइवेट संस्थान।

Scanned with OKEN Scan
Scanned with CamScanner

यह भी दर्ज़ करना ज़रूरी है की हालांकि अंग्रेजी सरकार ने यह घोषित किया की सार्वजनिक शिक्षा संस्थानों में दाखिले के सन्दर्भ में किसी व्यक्ति के साथ कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा, असल हकीकत इससे कहीं दूर थी। यहां उसकी विस्तृत चर्चा करना संभव नहीं होगा। फिर भी इतना कहा जा सकता है की दरअसल अंग्रेजी सरकार ने आम तौर पर एक समझौतावादी रवैया ही अपनाया। जैसे की हंटर आयोग ने 1882-1883 में यह कहा की इस नीति को पूरी ऐतियात के साथ लागू किया जाए जहां यही तथाकथित उच्च जातियों के द्वारा तथाकथित अछूतों के साथ पड़ने का ज्यादा दबाव है तो सरकार को समझौता कर लेना चाहिये और उचित समय का इंतज़ार करना चाहिए इन सारे के की बहुत से जगहों पर सामाजिक विरोध के कारण या तो दलितों को स्कूल छोड़ने पड़े या स्कूलों में ही उनके बैठने के अलग इंतजाम करने पड़े।

हम यह भी जानते हैं की लड़कियों, पिछड़ी जातियों, आदिवासियों, विकलांगों, धार्मिक अल्पसंख्यकों, उर्दूभाषी व मुस्लिमों, रेलवे, पुलिसकर्मी व यूरोपियन लोगों आदि आदि के लिए अलग-अलग स्कूल खोले गए। कानून मजदूरों और अपराधियों व तथाकथित आपराधिक कबीलों के बच्चों के लिए तकनीकी (technical), औद्योगिक (industrial) स्कूल व सुधार केंद्र (reformatories) भी अलग से खोले गए। कुछ स्कूल अंग्रेजो में पढ़ाते थे तो अन्य स्थानीय भाषा में और कुछ अन्य दोनों में। हाशिये के वर्गों और समुदायों के ज़्यादातर स्कूल सीधे सरकार के द्वारा स्थापित व संचालित होने की बजाए या तो प्रगतिशील सामाजिक तत्वों और या फिर खुद इन पिछड़े लोगों की पहल से खोले व चलाए जा रहे थे। संक्षेप में कहें तो स्कूली व्यवस्था की तमाम परतें सामाजिक विभाजन को मिटाने से ज़्यादा उसकी पुनर्रचना का माध्यम प्रतीत होती हैं।

बीसवीं सदी के आरम्भ में गोपाल कृष्ण गोखले ने केंद्रीय विधाई परिषद् में मुफ्त व अनिवार्य आरंभिक शिक्षा की मांग को एक बार फिर बहुत ज़ोर से उठाया। 1919 के प्रशासनिक सुधारों के बाद जब शिक्षा को प्रांतीय सरकारों की ज़िम्मेदारी मान लिया गया और इस स्तर पर भारतीय लोगों के हाथ में कुछ शक्तियां भी हस्तांतरित कर दी गईं तो सभी प्रांतों ने मुफ्त व अनिवार्य आरंभिक शिक्षा के कानून पारित करने शुरू कर दिए।

इस तरह से देखें तो औपनिवेशिक दौर में भी निशुल्क व अनिवार्य आरंभिक शिक्षा के कुछ अधिनियम राज्य सरकारों के द्वारा पारित हुए थे। लेकिन उनका दायरा सामाजिक और भौगोलिक रूप से बहुत सीमित था। ये केवल उन इलाकों में ही लागू किये जा सकते थे जहां शिक्षा ने पहले से उल्लेखनीय प्रसार हासिल कर लिया हो। इन्हें लागू करना भी अनिवार्य नहीं था। इस सन्दर्भ में अंतिम निर्णय स्थानीय प्रशासन को लेना था। लड़कियों को इनके दायरे से बाहर रखा गया था। समाज के कई ताकतवर वर्गों का यह भी कहना था की यदि सब बच्चों को अनिवार्य रूप से स्कूल भेजा गया तो फैक्ट्रियों, खेतों और खदानों में कौन काम करेगा? यानी देश की तरक्की कैसे होगी?

इन तमाम सामाजिक और राजनैतिक कारकों की वजह से ज़मीनी स्तर पर कोई खास परिवर्तन नहीं हो सके। हाँ, पढ़ने वाले बच्चों की संख्या में कुछ इज़ाफा ज़रूर हुआ।

जब 1937 के चुनावों में अधिकांश प्रांतों में कांग्रेस की सरकारें बन गयी तो महात्मा गाँधी ने इनके मुख्यमंत्रियों (जिन्हे उन दिनों प्रधान मंत्री कहा जाता था) को नई तालीम पर चर्चा करने के लिए वर्धा में एक सम्मलेन में बुलाया। यहां वो रिपोर्ट पेश की गयी जो गांधीजी के अनुरोध पर डॉक्टर ज़ाकिर हुसैन ने लिखी थी। इसके विशद चर्चा का स्थान यहां उपलब्ध नहीं है। फिर भी यह कहना ज़रूरी है की इसमें सभी बच्चों की आरंभिक शिक्षा के लिए योजना बनाई गयी थी। यह जोतीराव फूले, John Dewey और रूसी प्रयोगों से काफी प्रभावित प्रतीत होती है, क्योंकि इसमें व्यवहारिक ज्ञान को तरजीही दी गयी थी। अक्सर लोगों ने इसके बारे में यह कहा है की गांधीजी शिक्षा को स्थानीय आत्मनिर्भर समुदाय के हाथ में पूरी तरह से छोड़ देना चाहते थे। लेकिन यह गलत धारणा है। बाकी के मामलों में वह इस आज़ादी के समर्थक थे, लेकिन उन्होंने यह स्पष्ट किया था की शिक्षकों के प्रशिक्षण का इंतज़ाम करना और स्कूल में ज़रूरत के सामान को उपलब्ध कराना और यहां तक की बच्चों के द्वारा सीखने की प्रक्रिया में बनाए जाने वाले सामान को सरकार को ही खरीदना होगा। व्यवहारिक ज्ञान पर ज़ोर होने की वजह से उस सामाजिक वर्ग का वर्चस्व घट सकता था जो सदियों से किताबी ज्ञान के आधार पर जाती व्यवस्था के शीर्ष पर बैठे थे। लेकिन, इन प्रधानमंत्रियों ने इसे केवल प्रयोग के रूप में कुछ जिलों में ही लागू किया। यही परंपरा आज़ादी के बाद भी चलती रही। इस तरह यह एक हाशिये का मॉडल बन कर रह गया। दूसरी तरफ उभरते हुए राष्ट्र-राज्य ने आर्थिक विकास का वह रास्ता अपना लिया जो नई तालीम के दर्शन से बिलकुल अलग था।

जब संविधान बन रहा था, तब भी बाबासाहिब डॉक्टर भीमराव अंबेडकर ने आरंभिक शिक्षा को मौलिक अधिकार बनाने की सिफारिश की। लेकिन सरदार पटेल व मौलिक अधिकारों का प्रारूप तैयार करने वाली समिति के कई अन्य सदस्य नहीं माने। उनका तर्क था की उस स्थिति में जब देश आर्थिक रूप से कमज़ोर है, उन सभी विषयों को मौलिक अधिकार की श्रेणी में शामिल नहीं किया जा सकता जो सरकार पर बहुत अधिक आर्थिक बोझ डालते हों।

फिर भी भारत के संविधान ने आरंभिक शिक्षा के सवाल को राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धांतों में डाला। सरकार को 10 सालों के भीतर 14 वर्ष तक के आयु वर्ग के सभी बच्चों को 8वीं कक्षा तक की निशुल्क व अनिवार्य शिक्षा देने का आदेश दिया।। बच्चों की गरिमा, सुरक्षा, और शोषण से मुक्ति के बारे में कई निर्देश व मौलिक अधिकार दिए। सामाजिक, सांस्कृतिक व भाषाई रूप से अल्पसंख्यक समुदायों को शिक्षा व संस्कृति की रक्षा का मौलिक अधिकार दिया।

यह भी ध्यान रहे की संविधान ने बाल श्रम को प्रतिबंधित किया था, जबकि सन 2016 में श्रम कानून में संशोधन किया गया है। अब इस संशोधन के बाद कानूनी तौर पर भी स्कूल में जाने वाले बच्चे घरों में नौकरों की जगह काम कर सकते हैं। स्कूल में हाज़री ज़रूरी नहीं है। क्यों? क्योंकि हमारे जैसे उच्च मध्यम वर्ग के लोग जब काम करने जाते हैं तो हमें अपने घरों में काम करने के लिए जो नौकर चाहिए वो कहाँ से आएँगे?

Scanned with CamScanner

संविधान लागू होने के चार दशकों से भी ज्यादा का समय बीत जाने के बाद भी सरकारों ने सभी बच्चों के लिए निशुल्क व अनिवार्य आरम्भिक शिक्षा का इंतजाम नहीं किया। तब उच्चतम न्यायालय के न्यायधीश Justice Unnikrishnan ने 1993 में अपने एक निर्णय में आरंभिक शिक्षा की उम्मीद को गरिमापूर्ण जीवन जीने के मौलिक अधिकार के साथ जोड़ते हुए इसे भी एक मौलिक अधिकार का दर्जा दे दिया।

अब सरकार पर आरंभिक शिक्षा को एक मौलिक अधिकार मानने का दबाव काफी बढ़ गया। लगभग एक दशक बाद सरकार ने भारतीय संविधान में 86वें संशोधन के द्वारा 2001 में 6 से 14 वर्ष की शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा दिया। इस संशोधन की एक बड़ी आलोचना यह की जाती है कि इसमें पूर्व-प्राथमिक शिक्षा को शामिल नहीं किया गया। उसके बाद शिक्षा अधिकार क़ानून के कई मसौदे आए और गए। एक और दशक बीत गया और किन्तु परन्तु की संख्या मसौदों में बढ़ती गई। तब 2001 में स्पष्ट दृष्टता शिक्षा अधिकार क़ानून पारित किया गया। केंद्रीय सरकार की अधिसूचना के अनुसार, 1 अप्रैल 2010 को देश भर में शिक्षा अधिकार क़ानून लागू किया गया था।

यहां से यह स्पष्ट हुआ है की शिक्षा अधिकार क़ानून (Right to Education Act/RTE) 2001 केंद्र सरकार द्वारा पारित एक ऐसा सहायक क़ानून (enabling act) है जो की एक खाका प्रदान करता है जिसे अमलीजामा पहनाने का ज्यादातर काम राज्य सरकारों के कन्धों पर छोड़ दिया गया है। यह निर्णय राज्य सरकारों को लेना था कि वे शिक्षा अधिकार क़ानून को लागू करने के लिए उचित नियमावली (Model Rules) कब बनाएँगी और कब लागू करेंगी। इसलिए, कई राज्यों में शिक्षा अधिकार कानून 2001 को कई-कई सालों तक लागू ही नहीं किया जा सका। इसके लिए जो नियमावली बनानी थी वो बनायी ही नहीं गयी। जहाँ कहीं नियम बने भी, वहां नियम बनाते समय और भी ज्यादा घालमेल कर दिए गया। बजट आवंटन को लेकर भी राज्य सरकारों व केंद्र सरकार के बीच खींचतान चलती रही।

और अब तो इसे अधिकांश राज्यों में लागू कर दिया गया है। लेकिन ज़मीनी स्तर पर सकारात्मक प्रभाव न के बराबर दिखाई देते हैं। बल्कि कई खतरनाक प्रवृतियों को इस शिक्षा अधिकार क़ानून के पारित होने के बाद से और भी ज्यादा बढ़ावा मिल रहा है जिसकी चर्चा हम मौजूदा लेख में करेंगे। यह समझने की जरूरत है की ऐसा क्यों हुआ है?

औपनिवेशिक दौर में बने कानूनों और 2001 के शिक्षा अधिकार क़ानून में कई अंतर देखे जा सकते हैं। एक बुनियादी फर्क यह है की औपनिवेशिक दौर में बने कानूनों में "अधिकार" शब्द नदारद था। गुलाम लोगों के अधिकार नहीं महज़ कर्तव्य ही माने जाते हैं।

इनमें कई समानताएं भी देखी जा सकती हैं। एक समानता यह है की दोनों ही सहायक वाली enabling acts हैं। दूसरी समानता यह है की इन्होंने शिक्षा की बहुपरती व्यवस्था को बनाए रखा है। तीसरी मुख्य समानता यह है की इनके अंतर्गत राज्य सरकारों ने बहुत से महत्वपूर्ण मुद्दे स्थानीय निकायों के हाथों में छोड़ दिए थे। यह वैसा ही है जैसा 1990 के बाद से शिक्षा की तमाम नीतियों में देखने को मिलता रहा है।

2001 वाले क़ानून में भी केंद्रीय सरकार ने एक गैर बराबरी पर आधारित बहुपरती व्यवस्था का बाध्यकारी खाका और कुछ मानक स्थापित करके बाकी के काम राज्य सरकारों के भरोसे छोड़ दिए। इसने प्राइवेट स्कूलों की वैधानिकता को न सिर्फ पहले से भी ज्यादा पुख्ता बनाने का काम किया, बल्कि उनके प्रति आकर्षण को कई गुना बढ़ाने वाले प्रावधान भी किये, जैसे प्राइवेट स्कूलों में आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों (EWS) के बच्चों के लिए पहली क्लास में 25 प्रतिशत आरक्षण और कोटे के तहत भर्ती विद्यार्थियों की फीस का भुगतान सरकार द्वारा राज्य सरकारों को इस व्यवस्था के अंतर्गत ही वहन करना था और अपनी-अपनी नियमावलियां बनानी थी। यह इसके बावजूद की शिक्षा एक समवर्ती सूची का विषय है। इस तरह से क़ानून का एक खाका और कुछ मानक केंद्रीय व राज्य सरकारों के स्तर पर तय कर दिए गए।

2 स्कूलों के लिए रटे के मानकों का दायरा, स्थानीय समुदाय और कॉमन लॉजी

स्थानीय समूहों के साथ जोड़कर या स्थानीय परिवेश के सन्दर्भ में ज्ञान के सृजन व पुनर्रचना को बढ़ावा देने से क्लासरूम की चार दीवारों में कैद किताबी ज्ञान को जीवंत व उपयोगी बनाया जा सकता है। शिक्षा व्यवस्था को सुधारने के लिए, बच्चों के परिवारों और स्कूल के बीच रिश्ता कायम करना भी एक अत्य व आवश्यक कदम हो सकता है। लेकिन पिछले लगभग 30 वर्षों की शिक्षा से जुड़ी विभिन्न योजनाओं या कार्यक्रमों में समुदाय को शामिल करने के पीछे सृजनात्मक ज्ञान और जनसहभागिता का यह शिक्षाशास्त्रीय नज़रिया कम ही देखने को मिलता है। यहां प्रबंधन और प्रशासन के संदर्भ में समुदाय को शामिल करने पर ज्यादा जोर दिखता है। शिक्षा अधिकार क़ानून के द्वारा भी स्थानीय निकायों के हाथों में शिक्षा के तमाम जरूरी इंतजामात छोड़ देने की प्रक्रिया पर कोई व्यवहारिक अंकुश नहीं लगाया गया। यह इसके बावजूद की अनेकों विद्वानों ने दिखाया है की किस प्रकार इस स्थानीयकरण की प्रक्रिया से नुकसान हो रहा है। आप इस फर्क को सीधे तौर पर खुद भी देख सकते हैं यदि आप अपने इलाके में स्थित स्थानीय निकायों के साधारण सरकारी स्कूलों की तुलना केंद्रीय विद्यालयों, नवोदय विद्यालयों और मॉडल स्कूलों या विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा चलाए जाने वाले आँती-आँती के 'प्रतिभा स्कूलों' आदि में मौजूद ढांचागत व्यवस्थाओं और सुविधाओं के साथ करें।

Scanned with OKEN Scan
Scanned with CamScanner

भले ही आरम्भिक शिक्षा को नैतिक अधिकार का दर्ज़ा मिलने के बाद से शुरुआती स्तर पर नामांकन या दाखिले कुछ बढ़ गए हों लेकिन सार्वजनिक शिक्षा की हालत बहुत खराब ही बनी हुई है। नीपा (National University of Educational Planning and Administration) अपनी वेबसाइट पर Dise (district information Service for education) के तहत हर साल यह बताती है की स्कूलों की क्या स्थिति है। यहां जानकारी प्रकाशित भी होती है। इसमें राष्ट्रीय, राज्य, जिले और यहाँ तक की स्कूलों के स्तर पर तथ्यात्मक जानकारी संगृहीत होती है। ये तथ्य ही आपको बता देंगे की शिक्षा को नैतिक अधिकार माने जाने के इतने समय के बाद भी शिक्षा व्यवस्था कितनी बदतर हालत में है, और किसे बदतर स्कूल हैं।

लेकिन आज तो हम शिक्षा को नैतिक अधिकार का दर्ज़ा मिल जाने की वजह से ज़रुरत पड़ने पर न्यायालय का दरवाजा खटखटा सकते हैं। सरकारों पर इसे लागू करने का दबाव डाल सकते हैं। ये बात अलग है कि कोर्ट को भी कई मामलो में इसे ठीक से लागू कराने के लिए इसकी काफी उदार व्याख्या करनी पड़ेगी। मसलन यदि कोई प्राइवेट स्कूल RTE Act के तहत बने नियमों का पालन नहीं करता तो उसकी मान्यता रद्द की जा सकती है। लेकिन मुझे इस कानून में कोई भी एक ऐसी धारा (क्लॉज़) बता दीजिये जिसके तहत ऐसे सरकारी स्कूल के प्रिंसिपल या किसी शिक्षा अधिकारी के खिलाफ कोई कानूनी कारवाई की जा सकती हो, जो अनुसूची में दिए गए मानदंडों को अंतिम समय सीमा के बीत जाने के बाद भी पूरा नहीं करता। क्या ऐसे सरकारी स्कूलों की मान्यता रद्द की जा सकती है? क्या अनुसूची में दिए गए मानदंडों को पूरा करके मान्यता हांसिल करने की जिस तरह की बाध्यकारी समयसीमा वाली प्रक्रिया प्राइवेट स्कूलों के लिए दी गई है वैसी सरकारी स्कूलों के लिए कहीं पर भी दी गई है?

शिक्षा अधिकार कानून 2009 के किसी भी खंड में यह ठीक-ठीक नहीं बतलाया गया है की यदि कोई व्यक्ति, सरकार, या स्थानीय निकाय अनुसूची में लिखे मानकों और शर्तों को पूरा नहीं करता है तो कौन, किसको और कितनी सजा देगा। बल्कि इसे खंड 18(1) में जाहिर तौर पर बाहर रखा गया है। पूरे 18 और 19 खंडो में सिर्फ निजी और सरकारी मदद से चलने वाले स्कूलों की स्वीकृति प्रदान करने के तरीको पर बात है। खंड 8 (G) और 9 (H) में भी सरकारी स्कूलों के लिए ऐसे कोई प्रावधान नहीं है।

शिक्षा अधिकार कानून 2009 में तीन साल की तय समय सीमा के भीतर अनुसूची में दिए गए मानकों व शर्तों को पूरा करने की मांग को निजी और सरकारी मदद से चलने वाले स्कूलों को स्वीकृति देने की प्रक्रिया के हिस्से के रूप में ही वर्णित किया गया है। जाहिर है की यह प्रक्रिया पूरी तरह सरकार या स्थानीय निकायों के अधीन चलने वाले संस्थानों के लिए नहीं है।

ये बात ठीक है की शिक्षा अधिकार कानून 2009 के खंड 18 को छोड़ दे तो अनुसूची में किसी को छूट नहीं है। इस लिए यह तर्क दिया जा सकता है की अनुसूची में शामिल मानक और शर्तें सभी स्कूलों पर लागू होती है। इस तरह इस कानून की एक वैकल्पिक व्याख्या हो सकती है। अगर हम इसे तालीम के बुनियादी हक़ के सन्दर्भ में देखे तो यह निष्कर्ष निकलता है की यह हर स्कूल के लिए अनिवार्य है। यह तर्क भी दिया जा सकता है की बराबरी के आधार पर स्तरीय तालीम के लिए यह जरूरी है की हर स्कूल पर यह अनुसूची लागू हो ताकि सरकारी व सरकारी मदद से चलने वाले और निजी स्कूलों में समानता हो; नहीं तो भारतीय संविधान के अनुछेद 14 का उल्लंघन होता है।

हम यहाँ इस बात को रेखांकित कर रहे है की ऐसे तर्क अधिनियम की बेहद उदार व्याख्या पेश करते है। वैसे अगर ऊपर बताए गए खंडो को ध्यान से पढ़ा जाए तो कुछ और मतलब निकलता है।

ऐसा क्यों है की सरकारी स्कूलों के लिए इस सन्दर्भ में क्रियान्वयन को कोइ स्पष्ट रूपरेखा और योजना और अवमानना की स्थिति में सज़ा का कोइ प्रावधान नहीं है, लेकिन प्रायवेट स्कूलों के लिए है? शायद ऐसा इसलिए किया गया है ताकि एक तरफ तो खस्ता हालत वाले उन सरकारी स्कूलों जहां साधारण लोगों के बच्चे पढ़ने जाते हैं, उनकी स्थिति में किसी भी किस्म के क्रांतिकारी बदलाव के आकस्मिक दबाव से बचा जा सके; यथा स्थिति कायम रहे; परिवर्तन मामूली यानी minimalist और धीरे-धीरे याने gradual mode में हो। इन में से बहुत से साधारण सरकारी स्कूलों में सुविधाओं की कमी या बच्चों की संख्या काफी बता कर एक दूसरे में विलय के काम को (school merger) या उन्हें बंद करने के काम को (school closure) अंजाम दिया जा सके।

दूसरी तरफ छोटे-छोटे गैर-सरकारी स्कूल (budget private schools) चलते रहें। यदि इन budget private schools के खिलाफ इस आधार पर जन आंदोलन खड़ा हो जाए और न्यायालय भी यह मान ले की उनमें शिक्षा अधिकार कानून 2001 की अनुसूची में लिखित पूरी सुविधाएं मौजूद नहीं हैं और उनमें से कुछ को बंद करना पड़े, तो बड़े राष्ट्रीय व बहु-राष्ट्रीय कॉर्पोरेट घरानों (domestic and multi-national corporate houses) के द्वारा खोले जाने वाले प्राइवेट स्कूल उनकी जगह ले लें। दूसरे शब्दों में कहें तो थोड़ी सी बड़ी-बड़ी मछलियां बहुत सी लेकिन छोटी-छोटी मछलियों को निगल जाएं।

Scanned with CamScanner

292

आप में से बहुत लोगों ने अलग या प्रत्यक्ष रूप से यह सवाल उठाया है की किसी इलाके में स्कूल खोले जाने के क्या मानक होने चाहिए. किसी जगह पर स्कूल जाने वाले आयु वर्ग के बच्चों की संख्या, या किलोमीटर के हिसाब से बच्चे के घर से स्कूल की दूरी आदि? आपने अपने सवालों के सन्दर्भ में पहाड़ी इलाकों से उदाहरण देकर विषय की जटिलता को भी अच्छे से स्पष्ट किया है। आपने ठीक ही बताया है की ऐसे सामान स्कूल हैं जो इन मानदंडों के हिसाब से खोले गए हैं और जिनमें पढ़ने वाले बच्चों की संख्या इतनी कम है की उनके चलाने के लिए सभी सुविधाओं, ढाँचे और शिक्षकों की व्यवस्था करना मुश्किल, अव्यवहारिक और बहुत खर्चीला हो जाता है।

पहले बात तो यह है की इसके लिए नकारात्मक नजरिये से ही न देखें कि क्यों इन बच्चों के लिए स्कूल खोले गए हैं। ऐसे हर इलाके के बच्चे को शिक्षा तो देनी ही पड़ेगी ना। जो तरीका अपनाया गया वो गलत हो सकता है पर कुछ तो करना पड़ेगा न।

दूसरी बात यह है की व्यवस्था कहीं भी सैद्धांतिक के बजाय व्यवहारिक स्तर पर कठोरता के साथ तय कर दिया जाए और व्यवहार स्तर पर उसमें कैसे भी किस्म के सुधार की गुंजाइश या लचीलापन न हो तो उसमें इस तरह कि दिक्कतें आने लगती हैं। लेकिन यह मुद्दा पूरी तरह से सिर्फ स्थानीय निकायों के हाथों में ही नहीं छोड़ा जा सकता जहाँ सत्ता में बैठे वर्ग के स्वार्थ शिक्षा की राजनीति पर ज़्यादा हावी हो जाते हैं। दरअसल पिछले लगभग तीस सालों से यही हो रहा है और स्कूलों की हालत आम तौर पर ज़्यादा खराब हुई है। यह उन जगहों पर बेहतर हुई है जहाँ राज्य या केंद्र सरकार ने खुद सक्रियता दिखाई है।

तीसरी बात को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देता हूँ। कोल्हापुर के राजा सैयाजी राओ, जिन्होंने बाबासाहब अंबेडकर को विदेश पढ़ने भेजा था, उन्होंने अपने राज्य में सबसे पहले अनिवार्य व निशुल्क प्राथमिक शिक्षा लागू की। न तो यह काम अंग्रेजी सरकार ने किया और न ही आज़ाद भारत की सरकार ने, बल्कि एक रजवाड़े ने। पूरी बॉम्बे प्रेसीडेंसी मेस अनिवार्य व निशुल्क प्राथमिक शिक्षा पर अंग्रेजी सरकार जितना पैसा खर्च करती थी वो उससे कहीं ज़्यादा अपने रजवाड़े के स्कूलों पर करते थे। ये मैं इसलिए बता रहा हूँ कि उनके सामने भी ये सवाल आया था कि कुछ इलाकों में बच्चों की संख्या बहुत कम थी। उन्हें वहाँ पर भी स्कूल खोलने पड़े जबकि यह उन्हें बहुत महंगा पड़ रहा था। बाद के राजाओं के सामने भी ये समस्याएँ आईं। वो बच्चे कौन थे? सर्वेक्षणों ने यह बताया की ये वो बच्चे थे जिन्हें सच में सरकारी स्कूलों की ज़रूरत सबसे ज़्यादा थी। आखिरकार कटे हुए इलाकों (isolated hamlets) में रहने वाले और काम करने वाले कौन लोग होते हैं? समाज का पिछड़ा तबका यानी आदिवासी और पिछड़ी जातियाँ। लगभग सारे समाज की यही कहानी है।

ये केवल उत्तराखंड की समस्या नहीं है। बल्कि हिमाचल प्रदेश, उत्तर-पूर्व जहाँ-जहाँ जंगल के निवासी हैं सबकी कुछ हद तक समान और कहीं कहीं कुछ अलग तरह की समस्याएँ हैं। ये केवल पहाड़ों की समस्या भी नहीं है। तमाम मैदानी राज्यों में जंगल वासी मौजूद हैं। उनके संगठनों का एक राष्ट्रिय स्तर का मंच भी है जो इस तरह की समस्याओं के तरफ ध्यान आकर्षित करने की कोशिश करता रहता है। तो क्या इस तरह के इलाकों में रहने वाले बच्चे जो की पूरे देश में फैले हैं उनको पढ़ने का हक नहीं मिलेगा? उनको पढ़ने का अवसर तो पूरी आवश्यक सुविधाओं के साथ देना पड़ेगा। स्कूल तो खोलने पड़ेंगे। ये हो सकता है कि इन इलाकों में स्कूल खोलने के मानदंड कुछ अलग हों। इस बारे में इन इलाकों के स्कूलों के शिक्षकों, पालकों (parents) और स्थानीय प्रशासनिक निकायों के अधिकारियों की राय लेकर राज्य सरकारों को उचित निर्णय लेने चाहिए और उन्हें उस राज्य के model rules of RTE Act में शामिल करना चाहिए। बच्चों को स्कूल लाने ले जाने के लिए ज़रूरत के मुताबिक उचित इंतज़ाम करने पड़ेंगे, चाहे यातायात के साधन हों या सुरक्षाकर्मी या सहायक एस्कॉर्ट्स (escorts)। इन तथाकथित दुर्गम इलाकों के बच्चों को मल्टीपल लर्निंग (multiple learning) और मल्टी ग्रेड टीचिंग (multi-grade teaching) जैसी धोखेबाज़ी वाली शब्दावली के द्वारा कम शिक्षकों और कम क्लासरूमों से काम चलाने के लिए मजबूर करना तो उनके समता के मौलिक अधिकार का हनन है।

एक तरफ तो शिक्षा अधिकार क़ानून 2009 ने वैकल्पिक स्कूलों के सामने अस्तित्व का संकट पैदा कर दिया है क्योंकि वो उसमें दिए गए मानकों और शर्तों को पूरा नहीं करते। दूसरी तरफ इस क़ानून ने अपने घटिया मानदंडों के ज़रिये नौजूदा सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था को और ज़्यादा बेरुखी, विलय और तालाबंदी की तरफ धकेला है। तीसरी तरफ निजी स्कूलों ने शिक्षा अधिकार क़ानून 2009 के पारित होने के बाद से अपने आप को एक ताकतवर दबाव समूह (lobby) के रूप में पहले से भी और ज़्यादा संगठित व मज़बूत किया है। इसका एक उदाहरण यह है की इन्होने एक बड़ा मंच बना लिया है जिसका नाम है National Alliance of Independent Schools। इस अलायंस ने अप्रैल 2018 में दिल्ली के रामलीला मैदान में 50 हज़ार लोगों की रैली आयोजित की। उनकी मांग है की शिक्षा अधिकार क़ानून 2001 के तहत प्राइवेट स्कूलों में जो 25 प्रतिशत का कोटा तय किया गया है उसे खत्म किया जाए। राज्य शिक्षा में निवेश करना बंद करे। सरकार मूल्यांकन का काम शिक्षकों से लेकर स्वतन्त्र व स्वायत्त (निजी) संस्थाओं को सौंप दे। ये लोग देशभर में लामबंदी कर रहे हैं। इनका जाल काफी बड़ा हो गया है। इनका असर इतना बढ़ गया है की हाल के दौर की शिक्षा नीति से सम्बंधित सरकारी दस्तावेज़ों की भाषा पर इस समूह की मांगों और भाषा का सीधा प्रभाव दिखने लगा है।

Scanned with CamScanner

यह मंच Center for Civil Society नामक NGO के पहल पर बना है। यही वह NGO है जो School Choice Campaign चला रहा है। इसका कहना है की सरकार को स्कूल खोलने की क्या ज़रूरत है। सरकार हर बच्चे को एक निश्चित राशि वाला वाउचर दे दे। इसे लेकर बच्चा अपने वालदैन के साथ जा कर किसी भी स्कूल में दाखला लेले। वाउचर के ज़रिये एक तयशुदा रक्म स्कूल को सरकार से हासिल हो जाएगी, बाकी की फीस और अन्य खर्चे बच्चे के परिवार खुद उठाएं। स्कूल चाहे जितनी भी कम तन्खा पर स्टाफ रखे और जितनी मर्ज़ी फीस ले। राज्य या सरकार के ऊपर शिक्षा का भार बहुत कम हो जाएगा। दरअसल, राज्य की ज़िम्मेदारी महज़ एक तयशुदा रक्म प्रदान करने तक सीमित रह जाएगी जबकि असल में शिक्षा के एकीकरण का सन्तुलन होना चाहिए राज्य की पूरी ज़िम्मेदारी।

उक्त में समता व बराबरी और स्कूल चुनने की आज़ादी की बजाए, वाउचर सिस्टम ज़्यादा से ज़्यादा एक तरह की सब्सिडी है। जो लोग वाउचर की कीमत से ज़्यादा खर्च नहीं कर सकेंगे, वे अपनी औक़ात के मुताबिक़ ही अपने बच्चों को सस्ते स्कूलों ('budget schools') में ही दाखला दिलाने को मजबूर होंगे। दूसरी तरफ बाकी के लोग अपनी हैसियत के मुताबिक़ आर्थिक तौर पर अमीर व सामाजिक रूप से संभ्रांत वर्ग के महंगे स्कूलों में ही जाते रहेंगे। इस तरह समाज में व्याप्त गैर बराबरी शिक्षा के अवसरों को प्रभावित करती रहेगी। मान लीजिए कि किसी अभिभावक ने अपने बच्चे को 2 हज़ार रुपए का वाउचर मिल गया। अब जिस स्कूल की फीस 2 हजार होगी, आप अपने बच्चे का दाखला उस स्कूल में तो करा सकेंगे। लेकिन यदि

किसी स्कूल की फीस 25 हज़ार हो और यदि आप के पास इस अतिरिक्त राशि को अदा करने की क्षमता न हो तो वहाँ आप अपने बच्चे को नहीं पढ़ा सकेंगे। इस तरह से तो अमीर लोगों का वर्चस्व वहीं का वहीं बना रहेगा। यह भी याद रखिये की हमारे समाज में आर्थिक गैर बराबरी का सामाजिक-सांस्कृतिक, लैंगिक, भाषाइक तथा शारीरिक-मानसिक विकलांगता आधारित विषमताओं के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। इसके अलावा, वाउचर सिस्टम के अंतर्गत, विशेष वर्गों के आलीशान सरकारी स्कूल भी गैर बराबरी को बनाए रखेंगे।

यह मंच ये भी कहता है कि प्राइवेट स्कूलों में जो 25 प्रतिशत के आरक्षण का प्रावधान है वह भी गलत है। हालाँकि मैं भी कहता हूँ कि ये गलत है, लेकिन मेरे कहने के कारण अलग है, वो अभी छोड़िए।

3 नवउदारवाद बनाम शिक्षा का मौलिक अधिकार

इस लेख के पिछले हिस्से में हम यह पहले ही इशारा कर आए हैं की शिक्षा के बाज़ारीकरण ने कैसे शिक्षा के मौलिक अधिकार के सामने एक मज़बूत चुनौती पेश कर दी है। अब हम थोड़ा पीछे जाकर इस नवउदारवादी विचारधारा के उदय और विस्तार के बारे में चर्चा करते हुए वर्तमान में लौटेंगे।

ऐसा आम तौर पर माना जाता है की संयुक्त राज्य अमेरिका ने समान स्कूल प्रणाली को काफी हद तक स्थापित कर लिया था। लेकिन 1954 में संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यालय ने अपने एक प्रसिद्द JISI Brown मामले के फैसले में कहा की अलग-अलग लोगों को अलग-अलग तरह के स्कूलों में भेजना समता के मौलिक अधिकार का उल्लंघन है। इस से स्पष्ट है की वहां भेदभाव मौजूद था। फिर भी यह कहा जा सकता है की अमरीका जैसे बड़े पूंजीवादी देश ने भी पहले शिक्षा और स्वास्थ्य की सार्वजनिक व्यवस्थाओं को खड़ा किया। लेकिन जब 1970 में तेल का अंतर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न हुआ तो अपनी तेल के आयात को पूरा करने के लिए जहाँ-जहाँ से हो सकता था, उसने अपने खर्च में कटौती करनी शुरु कर दी। सामाजिक सरोकारों जैसे शिक्षा और स्वास्थ्य के महत्व और योगदान को भी बाज़ारीकरण के संकुचित आर्थिक आधारों पर मापा जाने लगा। जबकि इन क्षेत्रों से ऐसा फायदा नहीं मिलता, जो तुरंत और ठीक तरह से मापा जा सके, क्योंकि, इन सुविधाओं का लाभ केवल हासिल करने वाले व्यक्ति को नहीं बल्कि पूरी व्यवस्था को होता है। इस बात को नज़र अंदाज़ करते हुए अमेरिकी सरकार इन्हें अपने ऊपर बोझ के रूप में पेश करने लगी। इन मदों में अपने खर्च को निवेश के रूप में देखने लगी। अब यह निवेश घाटे के सौदे के रूप में पेश किया जाने लगा। इस आधार पर यह तर्क दिया जाने लगा की इस वित्तीय भार को कम करने के लिए सरकारी निवेश को घटाया जाए और प्राइवेट निवेश को बढ़ाया जाए। लेकिन प्राइवेट निवेशक बड़ी तादात में तभी किसी चीज़ में निवेश करेंगे जब उससे उन्हें कोई लाभ हो। इस लिए, शिक्षा, जो की एक सामाजिक सरोकार है, व्यक्तिगत वस्तु के रूप में देखी जाने वाली बिकाऊ वस्तु में परिवर्तित होने लगी। क्योंकि अब शिक्षा व्यक्तिगत लाभ की वस्तु के रूप में देखी जाने लगी, इसलिए हांसिल करनेवाले उपभोक्ताओं को ही उसकी कीमत चुकानी थी। राज्य को अपने तथाकथित सीमित संसाधनों का उपयोग सिर्फ उन गरीब व पिछड़े लोगों के लिए करना था जो शिक्षा की कीमत अदा नहीं कर सकते थे। इस लिए कीमत चुका सकें में समर्थ लोगों के लिए प्राइवेट स्कूलों का बाज़ार खड़ा किया गया और परिणाम स्वरूप सार्वजनिक व्यवस्थाओं में केवल पिछड़े व गरीब वर्गों और समुदायों के विद्यार्थी ही रह गए जो कि आबादी का एक बड़ा हिस्सा हैं।

Scanned with OKE Scanner

Scanned with CamScanner

1990 और उसके 1992 के दशकों के आते-आते तो अमेरिका के दबाव में विश्व बैंक ने भी विकासशील (लेस डेवेलप्ड कंट्रीज) को कर्ज देते समय यह शर्त रखनी चालू कर दी कि उन्हें शिक्षा समेत तमाम दूसरे सामाजिक विकास के कामों पर खर्च में कटौती करने के लिए उन्हें पुनर्गठित (रिस्ट्रक्चर) करना पड़ेगा।

ये शर्तें लागू करने के लिए ये इस अंतर्राष्ट्रीय दबाव से किस तरह से भारत सरकार की शिक्षा नीतियों को प्रभावित करना शुरू किया, यह छोटा-सा उदाहरण मददगार साबित हो सकता है की 1986 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति के बाद शिक्षा मंत्रालय का नाम बदलकर मानव संसाधन मंत्रालय रख दिया गया। यानी अब न केवल शिक्षा बल्कि मनुष्य के वुजूद को ही महज़ एक संसाधन के रूप में देखा जाने लगा जो की आर्थिक तरक्की के पुर्जे होंगे।

भारत की सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था को पुनर्गठित करने के लिए 1990 के दशक में कई तरह की नई योजनाएं लागू हुईं जैसे सब्य्य भारत में सर्वशिक्षा अभियान। उसी दौर में एकल विद्यालयों का विस्तार हुआ। ऐसे दौर में एक स्कूल बने जहाँ बहुत कम पैसे पर एक शिक्षक तीन चार क्लासों को multiple teachership के तहत दिहाड़ी या अनुबंध के अंतर्गत पढ़ाने लगा।

सन 2000-2001 में पहली NDA सरकार के अंतर्गत, मानव संसाधन मंत्रालय ने नहीं, बल्कि सीधे प्रधानमंत्री की व्यापार और उद्योग सलाहकार समिति ने शिक्षा, स्वास्थ्य व ग्रामीण विकास में इन्वेस्ट निवेश के मुद्दों पर एक विशेष समूह गठित किया। पूरे राष्ट्र की शिक्षा के बारे में इस समिति के दूरदृष्टा की रिपोर्ट पेश की गयी उसने देश के दो बड़े उद्योगपति शामिल थे: मुकेश अम्बानी इसके कन्वेनर थे और कुमार मंगलम बिरला इसके सदस्य। इस बिरला अम्बानी रिपोर्ट (Birla Ambani Report) की प्रस्तावना में खुले तौर पर यह कहा गया है कि अब शिक्षा को सामाजिक सरोकार के रूप में नहीं बल्कि एक निवेश के निकाय के रूप में देखने की ज़रूरत है। इस रिपोर्ट ने बहुत-से वो सुझाव दिए कि किस प्रकार शिक्षा के अलग-अलग हिस्सों को बाज़ार के भरोसे छोड़ दिया जाए। यहां शिक्षण संस्थाओं की रैंकिंग की सिफारिश भी की गई।

GATS (General Agreement on Trade and Services) के तहत भारत सरकार ने 2004 में उच्च शिक्षा को एक व्यापार की वस्तु के रूप में WTO (विश्व व्यापार संगठन यानी World Trade Organization) को सौंप दिया। इसमें उच्च शिक्षा को एक सेवा (service) मान लिया गया। GATS के हिसाब से भारत में उच्च शिक्षा व्यापार की वस्तु यानि Tradable commodity बन गयी है। अब उच्च शिक्षा व्यापार का विषय है और उसे लागू करने के तमाम प्रयास उन नीतियों व संगठनों से सम्बंधित दस्तावेज़ों में मिलते हैं जिनका ज़िक्र मैं पहले कर चुका हूँ और आगे भी करूंगा। मुझे ऐसा लगता है कि ये उस दिशा में बढ़ते हुए कदम हैं।

क्यों GATS की बात DIET के शिक्षकों और विद्यार्थियों को सीधे तौर पर करनी है? DIET क्या है? ये तो लोगों को स्कूल में पढ़ाने के लिए प्रशिक्षण देने के संस्थान हैं। लेकिन DIET खुद में स्कूल नहीं हैं। वैसे DIET तो उच्च शिक्षा के संस्थान हैं। यहां विद्यार्थी स्कूली शिक्षा पूरी करने के बाद उसकी बारहवीं कक्षा के इम्तहान में पास होने के बाद प्रशिक्षण लेने आते हैं। अब ऐसे सेवा देने वाले यानी service sector बन गए हैं जिसका अनुमोदन NDA सरकार ने 2004 में कर दिया था अब तक उसके वापिस नहीं लिया गया है। गैट के सौदेबाज़ी की प्रक्रिया पूरी होते ही यह प्रावधान लागू हो जायेगा। फिर इसे वापस लेने की प्रक्रिया भी बहुत कठिन व उलझनों है।

GATS के तहत उच्च शिक्षा को बाज़ार की वस्तु बनाने का असर स्कूली शिक्षा पर पड़ना तो लाज़मी ही है। यदि शिक्षक प्रशिक्षण, जोकि Higher Education sector के अंतर्गत नहीं आता है महंगा हो जाए, और इसे खुले बाज़ार के हाथ में सौंप दिया जाए, तो कम तनख्वाह पर स्कूलों में शिक्षकों की नियुक्ति के लिए कैसे योग्य लोगों को आकर्षित किया जा सकेगा? जो शिक्षक मोटी फीस देकर उच्च शिक्षा हासिल करेगा, यदि उसे ठीक तनख्वाह देकर निजी स्कूलों में नियुक्त किया गया तो बच्चों से ज़्यादा फीस लेनी पड़ेगी। इससे बच्चों के लिए पढ़ना महंगा और मुश्किल हो जाएगा। हम तो पहले ही उल्टी दिशा में चल रहे हैं। शिक्षकों को कम से कम दिखते पर रखने की प्रवृत्ति लगातार बढ़ रही है।

इस के अलावा भी उच्च शिक्षा और स्कूली शिक्षा एक-दूसरे के साथ अटूट रूप से जुड़े हैं। विद्यार्थियों के लिए स्कूली शिक्षा को ज्ञान संरचना की शुरुआत के रूप में देखा जाना चाहिए। ज्ञान को हासिल व सृजित करने की इस औपचारिक प्रक्रिया में उच्च शिक्षा को स्कूली शिक्षा की अगली कड़ी के रूप में ही देखा जाना चाहिए। स्कूली शिक्षा में जिस तरह की तैयारी कराई जाती है उसके आधार पर ही आगे चलकर विद्यार्थी अपनी उच्च शिक्षा और व्यवसाय के बारे में फैसले लेते हैं।

किसी अच्छे प्रशिक्षित डॉक्टर से खासकर अति-पिछड़े इलाकों में जाकर या वहीं रहकर वहां के लोगों की निस्वार्थ सामाजिक सेवा की उम्मीद भी कैसे की जा सकेगी जब उसने अपनी पढ़ाई के लिए 50 लाख या 1 करोड़ का कर्ज़ा लिया हो। उसके ऊपर तो पहले उसके द्वारा लिए गए शिक्षा ऋण को

Scanned with CamScanner

चुकाने का दबाव होगा। वह तो शहरों में रहकर, प्राइवेट हस्पतालों में मध्यम व उच्च वर्गों के मरीज़ों की छोटी-छोटी बीमारियों के महंगे-से-महंगे इलाज बताकर अधिक-से-अधिक पैसे ऐंठने के दबाव में होगा वह उसकी मजबूरी बन जाएगी क्योंकि अपनी शिक्षा के लिए उसने जो कर्ज़ा बैंक से लिया है वह तो उसे चुकाना ही पड़ेगा। दूसरी तरफ एक खराब अर्थव्यवस्था में उसे उतनी मोटी तनख्वाह मिलने की संभावना भी बहुत कम होगी जिससे वह अपना कर्ज़ा भी चुका सके और घर परिवार भी चला ले।

स्वास्थ्य सुविधाओं के स्वास्थ्यीकरण का शोध रिश्ता डॉक्टरी की पढ़ाई के बाज़ारीकरण के साथ जुड़ा है। हालांकि डॉक्टरी की पढ़ाई को आम तौर पर उच्च शिक्षा के दायरे में रख कर ही देखा जाता है, जिसे भारत सरकार ने जरूर सरकारी से पूछे बिना ही गैट के अंतर्गत व्यापार की वस्तु के रूप में खुले अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार को सौंप दिया जबकि शिक्षा या स्वास्थ्य मूलतः राज्य सकारों के जिम्मेदारी है। शिक्षा तो सरकारी खुले का विषय है। लेकिन इस सन्दर्भ में यह याद रखना भी जरूरी है की इतनी पढ़ाई के दुनियादी हिस्से का चयन और उनकी तैयारी स्कूली स्तर पर ही शुरू हो जाता है।

दे को ध्यान रहेर की GATS सभी विदेशी और उपभोक्ताओं के साथ एक जैसा व्यवहार करने (यानी level playing field देने) की बात करता है। यानी एक विषमताओं से भरे समाज में सबको एक जैसे मानदंडों पर परखा जाएगा। अर्थात संविधान द्वारा स्थापित प्रगतिशील भेदभाव की नीति (policy of progressive discrimination) को छोड़ना होगा। कोई आरक्षण नहीं होगा। केवल अंकों यानी marks के आधार पर योग्यता को परखा जाएगा और शिक्षा व नौकरियों में अवसर दिए जाएंगे। क्या एक ऐसे समाज में जहां सामाजिक-आर्थिक गैर-बराबरी खतरनाक स्तर तक व्याप्त हो, एक यांत्रिक किस्म के समतामूलक व्यवहार से पिछड़े लोगों, वर्गों और समुदायों को अगड़ों के बराबर लाया जा सकता है? क्या पिछड़े लोगों को कुछ ख़ास ज़रूरतों और रियायतों की दरकार नहीं होगी? क्या योग्यता के वर्तमान में प्रचलित मानक सामाजिक पूर्वाग्रहों से मुक्त हैं? क्या घटते हुए सार्वजनिक क्षेत्र की स्थिति में यह सामाजिक न्याय सुनिश्चित करवा पाना मुश्किल नहीं होगा?

सरकार कहती है की सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था के विस्तार और सुधार के लिए प्राइवेट निवेश ज़रूरी है क्योंकि उसके पास पर्याप्त पैसा नहीं है। जितना पैसा वह शिक्षा को देती है, उससे कहीं ज़्यादा टैक्स छूट (tax exumption) के नाम पर कारपोरेट घरानों को दे देती है। दरअसल, नीतियां बनानेवालों और उन्हें अमलीजामा पहनानेवालों को अपनी प्राथमिकताएं तय करनी पड़ेंगी। क्या बच्चों को ढंग से पढ़ाना और शिक्षा में अधिक खर्च करना ज़्यादा ज़रूरी है या राजनेताओं की मूर्तियाँ बनाना और

कॉमनवेल्थ गेम्स आयोजित करना? क्या कॉर्पोरेट कंपनी को टैक्स में छूट देना और बुलेट ट्रेन चलाना ज़्यादा ज़रूरी है या स्कूल खोलना, ब्लैकबोर्ड और कॉपी-किताबें खरीदना ज़्यादा ज़रूरी है?

दरअसल, पैसे की कमी से भी ज़्यादा बड़ी समस्या यह है की शिक्षा से सम्बंधित सरकारी दृष्टिकोण में और उसके आधार पर बनी नीतियों में निजीकरण और मुनाफाखोरी को बढ़ावा देने की प्रवृति लगातार बढ़ती जा रही है। इसे समझने का एक अच्छा उदाहरण यह है की साल 2007 में UPA सरकार के तहत MHRD ने एक दस्तावेज़ अपनी वेबसाइट पर अपलोड किया जिसका टाइटल था Public Private partnership In Education: A Concept Note। इस दस्तावेज़ में सरकार खुद सरकारी संस्थानों की आलोचना करती है और प्राइवेट संस्थानों की तारीफ़। यह कहती है की सरकारी व्यवस्था में अच्छा प्रबंधन संभव ही नहीं है क्योंकि इनमें प्रतिस्पर्धा और व्यक्तिगत लाभ के तत्व मौजूद ही नहीं होते हैं।

इस तरह का विश्लेषण करते समय, सरकार खुद ही उन सभी सरकारी संस्थानों के उदाहरणों को नज़रअंदाज़ कर देती है जो अच्छी शिक्षा के लिए दुनिया भर में जाने जाते हैं। उनकी स्थापना व संचालन सरकारी प्रबंधन के अंतर्गत ही आता है। यह बात हालांकि ध्यान देने वाली है की ऐसे अधिकाँश संस्थानों का ज़्यादा लाभ उच्च वर्गों और जातियों के पुरुषों को ही हुआ है। उच्च व मध्यम वर्ग और ऊंची जातियों के बच्चे तथाकथित पब्लिक पर असल में प्राइवेट स्कूलों के अलावा ख़ास दर्जे के सरकारी संस्थानों जैसे central schools, नवोदय विद्यालयों, IITs, IIMs और AIIMS में भी पढ़ते रहे हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो भारत ने शिक्षा में जितनी तरक्की हांसिल की है, यदि अपवादों को छोड़ दें तो उसका ज़्यादातर लाभ उच्च व मध्यम वर्ग और ऊंची जातियों के पुरुषों को ही मिला है। जब राजनैतिक व न्यायपालिका के दबाव में सरकारी संस्थाओं में आरक्षण की नीतियों का कुछ हद तक लागू किया जाना शुरू हुआ तो विडम्बना यह है को उसी दौर में सरकारी व गैर सरकारी विमर्श का रुझान सार्वजनिक संस्थानों की बजाए अब प्राइवेट संस्थानों की तरफ होता जा रहा है।

जहां 2007 से 2012 वाली पंचवर्षीय योजना का मध्यवर्ती मूल्यांकन (भारत सरकार, 2010) शिक्षा के क्षेत्र में निजीकरण और मुनाफाखोरी को बढ़ावा देने की ज़रूरत के तरफ इशारा करता है, तो 2012 से 2017 वाली पंचवर्षीय योजना (भारत सरकार, 2012) उसी बात को खुलकर कहती है। इनके अनुसार शिक्षा के क्षेत्र में मुनाफ़ा कमाने वाले गैर सरकारी संगठनों (profit-making Non-governmental Organizations or NGOs) को बढ़ावा दिया जाना ज़रूरी है।

इस से भी आगे बढ़कर, नीति आयोग (योजना आयोग के नए अवतार) द्वारा प्रस्तुत 2017 से 2020 की त्रिवार्षिक कार्य योजना यानी action plan (भारत सरकार, 2017) कहती है कि हम शिक्षा संस्थान में निवेश करने की नीति (input based approach) को छोड़ कर परिणाम मापन

Scanned with CamScanner

आधारित नीति (output measurement based approach) अपना लें। इसके क्या मायने हैं? इसके मायने यह है कि सरकार स्कूलों को विभिन्न मदों के तहत जैसे बिल्डिंग और लाइब्रेरी आदि के लिए पूंजी तो कोई पहले से तयशुदा ग्रांट नहीं देगी। अब सरकार किसी भी स्कूल को तमाम सुविधाओं के लिए ग्रांट देने से पहले उसके विद्यार्थियों के परीक्षा परिणाम का मूल्यांकन करेगी। यानि इन सुविधाओं के बिना ये पहले आप अच्छा रिजल्ट लाएं और तब सरकार से निवेश की उम्मीद करें।

भारत सरकार के द्वारा गठित कस्तूरी रंगन समिति ने 2019 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति की जो रिपोर्ट पेश की है, और उसके आधार पर केंद्र सरकार ने 2020 में जो मसौदा तैयार किया है, उस में तो इस डिसिनेशलाइज की प्रक्रिया के आगे का रास्ता भी बता दिया गया है। ये दस्तावेज़ स्कूल क्लस्टर यानी school clusters को बनाने की बात करते हैं। कुछ राज्यों जैसे हरियाणा में तो इस अवधारणा को अमल पर उतारना भी शुरू कर दिया है। यदि कोई स्कूल शिक्षा अधिकार क़ानून के अनुसूची में जो कुछ थोड़े बहुत मानदंड लिखे हुए हैं वह उनको भी पूरा नहीं करता तो कोई चिंता की बात नहीं है। अगर एक स्कूल में शिक्षकों, सुविधाओं या खेल के मैदान आदि की कमी है तो कोई बात नहीं, उस पूरे स्कूल समूह में कहीं न कहीं तो वो मौजूद हैं। आवश्यकता अनुसार दूसरे स्कूलों की इन सुविधाओं का इस्तेमाल किया जा सकता है। यह बात कागज़ पर अच्छी लग सकती है लेकिन हकीकत में व्यवहारिक नहीं। इसके अलावा स्कूलों को बेहतर बनाने में सरकारों ने जो सुस्ती अब तक दिखाई है, अब तो उसे बनाए रखने का एक और बहाना मिल जाएगा। इस तरह लोगों का रुझान इन सस्ता हलत वाले सरकारी स्कूलों की बजाए प्राइवेट स्कूलों की तरफ बढ़ता जाएगा। तब इन सरकारी स्कूलों को बंद करना और भी आसान हो जाएगा।

अब सरकारी संस्थाओं की बजाए गैर सरकारी संगठनों पर ज़ोर देने का एक और बहाना प्रकट हो गया है। इसे CSR (corporate social responsibility) यानी कॉर्पोरेट सामाजिक ज़िम्मेवारी कहा जाता है। ख़ास तौर पर दूर-दराज़ के इलाकों में या आदिवासियों और पिछड़ी जातियों के विद्यार्थियों के लिए अच्छे स्कूलों को खोलने के लिए CSR का आह्वान किया जाता है। इसी तरह, हम यह भी पाते हैं की शिक्षा अधिकार क़ानून बनने के बाद भी, शारीरिक या मानसिक रूप से बाधित बच्चों की शिक्षा के लिए ख़ास तौर पर चलाए जा रहे अधिकाँश स्कूलों को सामाजिक सहयोग या दान पर ही निर्भर रहना पड़ता है। आप में से कई लोगों ने शायद आमिर खान का टेलीविज़न प्रोग्राम सत्यमेव जयते देखा होगा। उसका एक अंक उन बच्चों की शिक्षा के बारे में था जिनमें किसी भी तरह की विकलांगता (disability) होती है। मैंने बड़े गौर-से वह प्रोग्राम सुना था। उसमें हालाँकि यह बताया गया था कि राज्य की क्या ज़िम्मेदारी होती है; उसे क्या करना चाहिए; और कई जानकार लोगों से बातचीत भी की गई थी। लेकिन आखिर में एक NGO का नाम बताया गया और कहा गया कि अगर

आप बाधित बच्चों की शिक्षा के लिए योगदान करना चाहते हैं तो आप इस संस्था को दान (donation) दे सकते हैं।

मैं उस दिन सोच रहा था कि क्या अधिकार (right) कभी दान (donation) से हासिल किया जा सकता है? अधिकार तो बल्कि एक ऐसी अवधारणा मानी जाती है जो दिया ही नहीं जा सकता। अधिकार तो होता है, जिसे केवल पहचाना और इस्तेमाल किया जा सकता है। ये एक बहुत बड़ा सैद्धांतिक (fundamental Theoritical) सवाल है। अगर कोई भी सरकार मौलिक अधिकार (fundamental right) को किसी भी कार्पोरेट सीएसआर से या दान पुण्य से जोड़े, तो क्या ये आधुनिक दौर में जो इतना नायाब सिद्धांत निकल कर आया, अधिकार, क्या ये उसके नकारने की तरफ एक और कदम नहीं है? राजनीति विज्ञान (Political Science) में अधिकार का सम्बन्ध राज्य से है जो नागरिकों के अधिकारों का रक्षक व guarantor माना जाता है। संविधान कुछ अधिकारों की पहचान (recognise) करता है। लोग उनका निर्बाध रूप से निर्वहन कर सके, इसकी ज़िम्मेदारी राज्य (state) की होती है। तो राज्य ये ज़िम्मेदारी किसी और संस्थान को कैसे दे सकता है?

यदि यह कहा जाए की ये ज़िम्मेदारी राज्य ने ही नहीं उठानी थी, बल्कि अन्य संस्थानों को भी उठानी थी, तो क्या हम पूर्व आधुनिक काल में नहीं जा रहे हैं? पूर्व आधुनिक काल में शिक्षा की तमाम व्यवस्थाएँ होती थी पर वे व्यवस्थाएँ राज्य के द्वारा नहीं की जाती थी, वे व्यवस्थाएँ समुदाय अपने स्तर पर करता था। किसी शिक्षक को नियुक्त कर दिया जाता था कि मेरे घर के बच्चों को पढ़ाओ और चाहो तो मेरे घर के बगल के बच्चों को भी बैठा लो और उन्हें भी पढ़ाओ। कुछ ऐसी बड़ी शिक्षण संस्थाएँ भी होती थी जिन्हे कुछ उदार शासक ज़मीन अनुदान में दे देते थे और इस ज़मीन पर जो भी राजस्व मिलता था वह राज्य नहीं लेता था, बल्कि उससे शिक्षा संस्थान अपना खर्चा चलाते थे। क्या हम ये माने कि वर्तमान राज्य, सार्वजनिक शिक्षा का दुनिया भर का जो इतिहास है, उसको नकार के पूर्व आधुनिक दौर में वापिस जा रहा है? याद रहे की पूर्व-आधुनिक दौर में दुनिया में कहीं भी सबको शिक्षा के अधिकार की अवधारणा तक मौजूद नहीं थी। यह एक आधुनिक अवधारणा है। ये भी सोचिए कि अगर शिक्षा के निजीकरण से ही बात बन सकती होती तो उस दौर में भी जब नवउदारवाद के हमले से दुनिया के तमाम उन देशों में निजीकरण और व्यापारीकरण (privatization and commercialization) बढ़ रहा है जहाँ पहले सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्थाएं बेहतर स्थिति में थीं तब कई दूसरे देश अपनी शिक्षा व्यवस्थाओं को पूरी तरह से सार्वजनिक क्यों कर रहे हैं? इसकी चर्चा हम थोड़ा रुक कर करेंगे।

Scanned with CamScanner

4 शैक्षिक जान या मूल्यांकन का केन्द्रीकरण, का NGOकरण और कोचिंगकरण

में पहले ही केंद्र सरकार के कुछ नीतिगत दस्तावेजों के उदाहरणों से और लगभग अन्य घटनाओं के जिक्र के द्वारा साबित कर चुका हूं की सरकार शिक्षा के क्षेत्र में मुनाफाखोर गैर सरकारी संगठनों NGOs को प्रोत्साहित कर रही है। अलग-अलग राज्य सरकारों ने सरकारी स्कूलों को सार्वजनिक-निजी सहभागिता (Public Private Partnership/PPP) के नाम पर सरकारी स्कूलों को NGOs को सौंपने की कोशिशें शुरू कर दी है। मैं एक उदाहरण से यह स्पष्ट करना चाहूंगा की ये किस तरह से दरअसल शिक्षा के कमर्शियलाइजेशन का मामला है।

महाराष्ट्र की सरकार ने मुंबई नगर निगम के द्वारा चलाए जा रहे सभी 1174 स्कूलों को NGOs को सौंपने का एक प्रस्ताव लाया था। उस प्रस्ताव से यह साफ हो जाता है कि सरकारें किस तरह के एनजीओज को स्कूलों को सौंपना चाहती हैं। वो जनता के स्थानीय समुदाय (local communities) नहीं, बल्कि कॉर्पोरेट सेक्टर के संस्थान होंगे जिनका turnover (आय-व्यय) करोड़ों में होगा। जिनका कॉर्पोरेट सामाजिक जिम्मेदारी का कार्यक्रम (Corporate Social Responsibility/CSR) इतना बड़ा है कि कुछ विद्यार्थियों को छात्रवृत्ति दे सके। अब प्राइवेट सेक्टर की कंपनियां अपने तथाकथित सामाजिक दायित्व की जिम्मेदारी से निपटने के लिए एनजीओज खोल रही हैं और उनमें अपने कंसर का पैसा लगा रही है। इसके अलावा जो कंपनियां अपने कंसर कार्यक्रम को खुद नहीं चलाना चाहती हैं या उनमें सक्षम नहीं हैं, उनके लिए ऐसी दूसरी एजेंसीज खुल रही हैं जो तमाम कंपनियों के इस काम को देखती हैं और बदले में उनके पैसे का कुछ हिस्सा मुनाफे के रूप में लेती हैं।

इन में से तमाम ऐसे NGOs हैं जो जनता के सामने गलत तरह से तैयार की गई ऐसी रिपोर्ट पेश करते हैं (जैसे प्रथम नामक NGO की ACER रिपोर्ट) जिनमें सरकारी स्कूलों को बदनाम करने के लिए कहा जाता है कि यहां के विद्यार्थियों को तो पढ़ना-लिखना भी नहीं आता। वो कार्यशैली को सिर्फ साक्षरता से ही नहीं सीमित करते, यहां तक की वो छुपाते हैं कि तमाम प्रायवेट स्कूल भी ऐसी ही पढ़ाई करवाते हैं। वो यह छुपा लेते हैं कि न तो सारे सरकारी स्कूल या सारे प्रायवेट स्कूल और न ही उनमें पढ़ने वाले बच्चों का प्रदर्शन एक जैसा है। वे नहीं बताते की किस तरह विद्यार्थियों की सामाजिक व पारिवारिक पृष्ठभूमि उनके प्रदर्शन को प्रभावित करती है। किस तरह सरकारी स्कूलों में सिर्फ वही विद्यार्थी रह जाते हैं जिनके पास कोई दूसरा विकल्प नहीं बचता?. इन में से ज्यादातर बच्चे पहली या दूसरी पीढ़ी है जो स्कूल जा रहे है। इनके पास घर में शैक्षणिक मदद की कोई सी भी वो संभावनाएं मौजूद नहीं हैं जो बेहतर स्थिति वाले उन परिवारों के बच्चों को हांसिल हैं जो प्राइवेट स्कूल में पढ़ने जाते हैं। इनके सामने निर्बाध रूप से रोज़ स्कूल जाने में भी इतनी व्यवहारिक व आकस्मिक चुनौतियां होती हैं की वे अक्सर स्कूलों से गैर-हाज़िर रहते हैं। इन समस्याओं को दूर करने के लिए जिस तरह की सार्वजनिक व्यवस्थाएं सरकारें द्वारा की जानी थीं वे नहीं की गेन। सीधे तौर पर इन विद्यार्थियों की गैर हाजरी को उनकी पढ़ने के प्रति अनिच्छा

या ऐसी संस्थाओं के अभाव के रूप में पेश कर दिया जाता है। इसके अलावा, खराब प्रदर्शनों को सिर्फ शिक्षक की लापरवाही से जोड़ दिया जाता है और व्यवस्थागत कारणों को नज़रअंदाज़ कर दिया जाता है।

दिल्ली में स्कूली शिक्षकों का एक बहुत ही अच्छा सोचने वाला छोटा-सा संगठन है। उसका नाम है लोक शिक्षक मंच। उसमें ज़्यादातर दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग के द्वारा प्रशिक्षित शिक्षक हैं। ये वे लोग हैं जिनकी चेतना अभी भी बड़ी सक्रिय है। ये लोग बहुत लिखते हैं, सेमिनार करते हैं, लगातार स्कूली शिक्षा के बारे में काम करते रहते हैं। उनकी दो किताबें है। एक किताब है "स्कूलों का एनजीओकरण"। उसमें उनके अपने अनुभव और उनपर आधारित उनका विश्लेषण मौजूद है। उन्होंने दिखाया है की कैसे एक NGO द्वारा एक ऐसा कार्यक्रम चलाया जाता है जिसके अंतर्गत वह लोगों से यह गुज़ारिश करता है की वे किसी एक गरीब छोटी उम्र की छात्रा ("नन्ही कली") की आर्थिक मदद करने के लिए उसे गोद लेलें?। कैसे इस कार्यक्रम के नाम पर बच्चों के इंसानी वुजूद, उनकी गरिमा, स्कूल के दैनिक क्रियाकलापों व स्थाई शिक्षकों की स्थिति के साथ खिलवाड़ होता है? कैसे वो NGO उन बच्चियों को एक नाटक बना देता है? कैसे-कैसे NGO कर्मी स्थाई शिक्षक का स्थान खुद लेने लगते है? ऐसी खबर भी है की बाद में जब इसी NGO के एक वरिष्ठ अफसर ने स्कूली व्यवस्था के बारे में कुछ बुनियादी सवाल उठाने की जुर्रत की तो उसे नौकरी से निकाल दिया गया और इस तनाव में उसने आत्म हत्या कर ली।

दरअसल किसी स्कूल में चमक-दमक के साथ एक दिन कुछ आकर्षक काम कर देना अलग बात है। तमाम विषम परिस्थितियों के बावजूद उस स्कूल को लगातार चलाते रहना दूसरी बात है। ये वहीं का एक नियमित शिक्षक ही जान सकता है। खुद शिक्षक होना और बाहर से आकर उसके बारे में लिखना सच में बहुत बड़ा फर्क होता है।

प्रोफेसर Michael WI Apple की किताबें बहुत से शिक्षा संस्थानों में पढ़ाई जाती हैं। उन्हें NCERT ने public lecture देने के लिए बुलाया गया था। मैं और वे बाहर खड़े होकर बात कर रहे थे। बाद में उनका वो lecture मैंने ही Mainstream नाम की पत्रिका में छापा था। उन्होंने एक बात कही जो बात पद्मा सारंगपानी ने दिल्ली के अलीपुर गॉव में स्थित एक स्थानीय निकाय के स्कूल के अध्ययन में भी अपने ढंग से कही है कि शिक्षक इतनी मेहनत करता है। बच्चों को पढ़ाता है। सिस्टम में इतने सारे व्यवधान होने के बावजूद सिस्टम को इतने सालों तक चलाए रखता है तो हमें शिक्षक की सफलताओं को दर्ज करने का काम भी करना चाहिए। उनकी बात बिलकुल ठीक है। Michael WI Apple और James 'A' Beane द्वारा सम्पादित एक किताब है Democratic Schools जिसका अनुवाद एकलव्य ने किया है। इस पुस्तक में संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ सरकारी स्कूलों के शिक्षकों का बहुत जबरदस्त काम दिखाया गया है।

Scanned with CamScanner

यह जरूरी है कि जनता की भागीदारी शिक्षा में हो। हर शिक्षाशास्त्री और शिक्षा के बारे में अच्छा सोचने वाला हर व्यक्ति शायद ऐसा ही चाहेगा। लेकिन हम यह भी चाहेंगे कि हमारी भागीदारी उसके लोकतांत्रिक स्वरूप को और पुख्ता करने में सहायक हो। ऐसा न हो जैसा दिल्ली में हुआ जहां एक बड़े NGO के आला अफसरों को शिक्षा निदेशालय में ही दफ्तर दे दिया गया। आम आदमी पार्टी ने दिल्ली में जो कुछ उम्मीदें जगाई थीं, शायद इस तरह के NGOs के प्रभाव के चलते, एक नई बुनियादी समस्या को खड़ा कर दी। उन्होंने तो बच्चों की तथा कथित योग्यता के आधार पर साधारण सरकारी स्कूलों में भी उनके एक ही कक्षा के अलग-अलग अनुभागों (sections) में बाँट दिया। उनकी पाठ्यपुस्तकें और उनकी परीक्षा प्रणाली भी बदल दी गयी। ऐसा तो पहले कभी भी कम से कम सरकारी नीति के द्वारा नहीं हुआ था। सोचने की गंभीर बात यह है की ऐसा खतरनाक बदलाव क्यों एक राजनैतिक मुद्दा नहीं बना? क्या नवउदारीकरण के नव-उदारवादी विमर्श ने समता के अधिकार के आधुनिक सिद्धांत को सतह के नीचे दफन कर दिया है?

यहां तक, दिल्ली में एक बड़ी प्रक्रिया के अंतर्गत SCERT के द्वारा बनाई गई पाठ्यपुस्तकों को हटाकर पहले NCERT की पाठ्यपुस्तकों को लगाया गया। अब तो एनजीओ के द्वारा बनाई गई पाठ्यपुस्तकें भी वहाँ के स्कूलों में लगाया जा रहा है। लेकिन यह बात सिर्फ दिल्ली की नहीं है। क्यों कर्नाटक की सरकार SCERT को एक NGO को देने का फैसला करती है? वो तो वहाँ की जनता ने इसका विरोध करके उस निर्णय को रुकवाया। क्यों उत्तराखंड की SCERT द्वारा स्थानीय भाषा में बनाई गई व स्थानीय उदाहरणों से भरपूर पर्यावरण विषय की पाठ्यपुस्तक को हटाकर NCERT की बनाई पुस्तकें लगाई जाती हैं? आपने बताया की अन्य विषयों की वे पाठ्यपुस्तकें भी हटा दी गयीं जो आपने यहां SCERT के अंतर्गत बनाई थीं और जिनके बारे में प्रसिद्ध शिक्षाविदों का भी मानना था की ये बहुत अच्छी हैं? क्यों इनकी जगह NCERT की पुस्तकें लगा दी गयी?

क्या आप शिक्षकों, शिक्षक प्रशिक्षकों व तमाम विषयों के उन विशेषज्ञों में जो विश्वविद्यालयों, स्कूलों व अन्य शोध संस्थानों में कार्यरत हैं वो काबलियत नहीं है? NCERT, SCERT और DIET में वो काबिलियत नहीं है? आपने इतनी अच्छी-अच्छी पाठ्यपुस्तकें बनाई हैं। ज़रूर पहले वाली पाठ्यपुस्तकों में कुछ न कुछ समस्याएँ रह गई थीं। यह आपने माना। तभी तो आपने नई पाठ्यपुस्तकें बनाई। उनको और सुधारने की बजाय अब उस काम को दूसरी (प्राइवेट) एजेंसियों को देने की प्रक्रिया (यानी out sourcing) चालू हो गई है।

ऐसा क्यों होता है? दरअसल, यदि एक तरफ ऊपर दिए गए उदाहरण सरकार द्वारा स्कूली ज्ञान के केन्द्रीकरण (centralization) और समरूपीकरण (homogenization) की प्रक्रियाओं को भी दर्शाते हैं तो दूसरी तरफ प्राइवेट निवेशकों और उनके संगठनों के बढ़ते दबाव को दिखलाते हैं। पहली प्रक्रिया का नाम भी private sector के coaching centers को पहुंचता है। यदि उच्च शिक्षा संस्थानों, खासकर व्यावसाइक शिक्षा संस्थानों में दाखिले के लिए होने वाली परीक्षाओं में देश भर

में एक जैसी पाठ्यपुस्तकों से सवाल पूंछे जाएँगे तो coaching institutions की राष्ट्र व्यापी बड़ी-बड़ी शृंखलाओं को पैसेवाले लोगों को तैयारी कराने में आसानी होगी। इस तरह दरअसल योग्यता (merit) के नाम पर आयोजित दाखिले की प्रक्रिया रुतबे वाले लोगों के वर्चस्व को बनाए रखने का काम करेगी। आप जानते ही होंगे की किस तरह पिछले एक दशक में डॉक्टरी, इंजीनियरिंग, बिज़नेस मैनेजमेंट आदि विषयों की उच्च शिक्षा के संस्थानों में दाखिले की परीक्षाओं का राष्ट्रीय स्तर पर केन्द्रीकरण हुआ है। अब इनके लिए पूरे देश में एक ही परीक्षा आयोजित की जाती है। यहां मैं इस प्रक्रिया से होने वाले तमाम नुकसानों की चर्चा नहीं करूँगा। लेकिन यह रेखांकित करना ज़रूर चाहूंगा की इस केन्द्रीकरण का सीधा नाता पूरे देश में राज्यों के स्तर पर बनाई गई पाठ्यपुस्तकों को हटाकर NCERT के द्वारा बनाई गई पाठ्यपुस्तकों को लगाने की प्रक्रिया के साथ करीबी रूप से जुड़ा है। ऊपर लिखित केंद्रीय परीक्षाओं की शुरुआत से यह प्रक्रिया काफी तेज़ हुई है। अब जो लोग पले तड़े शहरों में रहते हैं और कोचिंग सेंटर्स की महँगी फीस अदा कर सकते हैं, उनके दाखिले की संभावनाएं ज़्यादा हैं। दूसरी तरफ इस प्रक्रिया की वजह से स्कूली ज्ञान पाठकों के परिवेश से और ज़्यादा दूर व गैर-प्रासंगिक होता जा रहा है।

यह तो अजीब विडम्बना है की शिक्षा व्यवस्था में लगातार नई-नई परतें कायम की जा रही हैं: नए-नए किस्म के स्कूल सरकारी व निजी क्षेत्रों में खोले जा रहे हैं, जो समाज के अलग-अलग वर्गों और समुदायों को उनकी हैसियत, या तथाकथित योग्यता के आधार पर दाखला देते हैं; जबकि शिक्षा व्यवस्था में आमूल सुधार के लिए समता के सिद्धांत का अनुकरण करना आवश्यक है। तो दूसरी तरफ, ज्ञान व भाषा के क्षेत्रों में लगातार समरूपता को बढ़ावा दिया जा रहा है जहां असल में विविधता को संरक्षित व प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। यह भी अजीब है की ऐसी व्यवस्थागत असमानता और सामाजिक गैर-बराबरी के माहौल में, विद्यार्थियों या प्रतिस्पर्धियों से एक-जैसे प्रदर्शन को भर्ती का आधार बनाया जा रहा है। यानी सब तरफ गैर- बराबरी को बनाए रखनेवाली व्यवस्थाएं और फिर भी आगे पढ़ने और बढ़ने के लिए एक-जैसे मानकों को हासिल करने की दरकार।

देश के किसी भी राज्य की तुलना में तमिलनाडु में मेडिकल कॉलिजों की संख्या सबसे ज़्यादा थी। तमाम किस्म की समस्याओं के बावजूद, तमिल नाडु में बारहवीं कक्षा के बाद डॉक्टरी की पढ़ाई के लिए MBBS में दाखले की व्यवस्था अपेक्षाकृत ज़्यादातर लोगों के लिए सुगम्य थी क्योंकि भर्ती का आधार बोर्ड की परीक्षा में हासिल किये गए अंक पर आधारित था। सामाजिक रूप से पिछड़ी जातियों के अलावा ग्रामीण क्षेत्रों के विद्यार्थियों के लिए आरक्षण की व्यवस्था भी थी। लेकिन NEET के लागू होने के बाद यह ज़्यादा लोकतांत्रिक व्यवस्था खत्म हो गई। बारहवीं कक्षा के अंकों का महत्व मेडिकल कॉलिजों में दाखले की प्रक्रिया में खत्म हो गया। ग्रामीण इलाकों का आरक्षण गया। प्रांतीय भाषा में प्रांतीय स्तर पर लिखी पाठ्यपुस्तकों की जानकारी अब दोयम दर्ज़े

Scanned with CamScanner

Scanned with CamScanner

की बन गयी। राष्ट्रीय बोर्ड के साथ जुड़े स्कूलों के विद्यार्थियों की तुलना में राज्य के बोर्ड से जुड़े स्कूलों के विद्यार्थियों के लिए मुकाबला मुश्किल हो गया। वे लोग जो महंगी कोचिंग हासिल कर सकते हैं उनकी संभावनाएं बढ़ गईं।

अनीता नाम की एक 17 वर्ष की बहुत ही मेधावी, गरीब, दलित व ग्रामीण इलाके की लड़की ने बारहवीं कक्षा की तमिलनाडु राज्य के बोर्ड की परीक्षा में 1200 में से 1176 मार्क्स प्राप्त किये थे। नीट की वजह से बारहवीं कक्षा में अब्बल दर्जे के मार्क्स पाने के बाद भी उसे अपनी पसंद के मेडिकल कॉलेज में दाखला नहीं मिला। इस पीड़ा में उसने 1 सितम्बर 2017 को आत्म हत्या करने का दुखद कदम उठाया। अपने आखरी खत में उसने लखा की 'जब किसी को समान अवसर नहीं मिलते, तो वे एक परीक्षा (सिंगल एग्जाम) के द्वारा किसे धोखा दे रहे हैं?'

5 क्या पढ़ाया जाए और कैसे

ऐसी स्थिति में आप के इस सवाल का जवाब देना तो बहुत ही जटिल है की कक्षा में क्या पढ़ाया जाए? आप इसे शिक्षा पद्धति (pedagogy) की नज़र से देखना चाहती हैं तो मैं दो उदाहरण देना चाहूंगा। इन में से एक सम्यवादी क्रांति का है और दूसरा एक पूंजीवादी देश से है। दोनों ही इस सन्दर्भ में उपयोगी हो सकते हैं।

रूसी साम्यवादी क्रान्ति के बिल्ड में प्रयोगों पर SHEILA FITZPATRICK की एक ज़बरदस्त किताब है जिसका शीर्षक है THE COMMISSARIAT OF ENLIGHTENMENT जो 1917 में CAMBRIDGE UNIVERSITY PRESS से छपी। इसमें ख़ास तौर पर वहां के शिक्षा आयोग की 1917 से 1921 के दौर की योजनाओं, गतिविधियों और दृष्टिकोण की चर्चा की गयी है। Lunacharsky (आयोग का मुखिया), Krupskaya (Lenin की पत्नी), Pokrovsky और Litkens इस शिक्षा आयोग के चार सबसे महत्वपूर्ण सदस्य थे और इन चारों के अलावा Lenin इनके संवादों में बाहर से शामिल होता थाइन्होंने ऐसी शिक्षा का प्रचार किये जो देश और स्थानीय समुदायों की ज़रूरतों के मुताबिक़ हो और जिसमें विद्यार्थी व शिक्षक ज्ञान की रचना व पुनर्रचना को काम के द्वारा हांसिल करें। भारत में, शैक्षिणिक ज्ञान पर ब्राह्मणवादी वर्चस्व और बाबू यानी clerk पैदा करने की अंग्रेजी सरकार की नीति के विरुद्ध, जोतीराव फुले ने 19विन सदी में और महात्मा गांधी ने 20वि सदी में करके सीखने की शिक्षा पद्धति की वकालत की थी। 20 वी सदी में ही संयुक्त राज्य अमेरिका में भी प्रसिद्द शिक्षाविद जॉन दुवि ने पढ़ने-पढ़ाने के इसी तरीके के बारे में विस्तार से लिखा। लेकिन सोवियत रूस ने इस शिक्षा पद्धति को अपने क्रांतिकारी

राष्ट्रीय शिक्षा नीति का मुख्य स्तम्भ बनाया और प्रोत्साहित किया। शिक्षा में करके सीखने की नीति के जरिये लोगों व देश की समस्याओं को सुलझाने की कोशिश की।

जब यह जानने के उद्देश्य से की क्रान्ति के बाद विभिन्न इलाकों में शिक्षा में क्या सुधार हुए हैं और उसकी क्या स्थिति है आयोग के सदस्यों ने देश भर का दौरा किया तो उन्हें बहुत अलग अलग किस्म के अनुभव देखने को मिले। यह प्रयोग इतने आकर्षक थे की दुनिया भर के लोग उन्हें देखने आ रहे थे। सबसे आश्चर्य जनक बात यह है की कुछ जगहों पर कोई काम नहीं हुआ था। जब आयोग के सदस्यों ने वहां के लोगों से इसका कारण जानना चाहा तो उनका जवाब यह था की वे आयोग या सरकार से किसी ठोस योजना की घोषणा का इंतज़ार कर रहे थे। आयोग ने उन्हें फिर भी कोई पहले से तयशुदा कार्यक्रम नहीं बताया। बल्कि आयोग ने उन्हें समझाया की शिक्षा की इस तरह की कोई भी योजना ऊपर से नहीं थोपी जाएगी। क्रांति के उद्देश्यों को हांसिल करने के लिए, लोगों और देश की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए, और मौजूदा समस्याओं के समाधान के लिए शोधों को प्रोत्साहित करने के लिए स्थानीय समुदायों को जो उचित लगे शैक्षिक ज्ञान की रचना वा पुनर्रचना की योजनाएं वे खुद ही बनाएं।

अब दूसरा उदाहरण लीजिए। बैसल बर्नस्टीन एक प्रसिद्ध अमेरिकी शिक्षाविद हैं। उनकी किताबों का अनुवाद करके यहाँ के ड्राफ्ट में पढ़ाना चाहिए। बैसल बर्नस्टीन ने क्लासरूम शिक्षण के तीन तरीके या फ्रेम्स बताए हैं।

पहला, स्ट्रांग फ्रेम: शिक्षक जो पाठ पहले से तैयार करके जाए कक्षा में उतना ही पढ़ाए, न उससे ज्यादा और न ही उससे कम। बच्चा सवाल नहीं कर सकता। सभी संभावित सवालों का जवाब पहले से तैयार लेसन प्लान में है, ऐसा माना जाता है। शिक्षक ही सवाल पूछता है। शिक्षक का मुख्य उद्देश्य लेसन प्लान को पूरा करना ही होता है। वह ऐसी सभी बातों को जो बच्चे उठाएं और सीधे तौर पर लेसन प्लान से न जुड़ी हों तो शिक्षक उन्हें दरकिनार कर देता है।

दूसरा, नो फ्रेम: बिना किसी पूर्व योजना के क्लास में जाकर शिक्षक द्वारा पढ़ाया जाना: विषय से सम्बंधित ऐसी चर्चा करना जिसमें पाठ के किसी ख़ास हिस्से को पूरा करने का विशिष्ट लक्ष्य या चिंता न हावी हों।

तीसरा, वीक फ्रेम: शिक्षक एक लचीली पूर्व योजना के साथ क्लासरूम में जाता है; क्लासरूम में जो संवाद होता है, उसपर शिक्षक अपनी प्रतिक्रियाएँ देता है, संवाद के आधार पर वह अपनी पूर्व योजना में आवश्यक छूट लेता व देता है और बदलाव करता है। उसका उद्देश्य सिर्फ पाठ खत्म करना नहीं, बल्कि बच्चे कि जिज्ञासा को आगे की तलाश के लिए मार्गदर्शन देना होता है।

Scanned with KEN Scanner

यदि पहले उदाहरण से हमें यह समझ में आता है की शिक्षा का लोगों की ज़रूरतों से जुड़ा होना तथा व्यावहारिक ज्ञान पर आधारित होना आवश्यक है तो दूसरा उदाहरण यह बताता है की किस प्रकार क्लास रूम को अधिक लोकतांत्रिक बनाया जाए और शिक्षकों को बीच फ्रेम के अंतर्गत पढ़ाने के लिए तैयार किया जाए, जिसमें बच्चों के अनुभवों पर चर्चा के लिए भी पर्याप्त स्थान मौजूद रहे। उनके अनुभवों, सोचने की वास्तविक दास्तानों और चुनौतियों पर चर्चा से ऑफिशियल ज्ञान और सामाजिक परिवेश के बीच की खाई को पाटा जा सकेगा। सही मायने में यही समावेशीकरण की तरफ एक ठोस कदम होगा। यह शिक्षा को समाज के ज़्यादातर लोगों के लिए प्रासंगिक बना सकेगा।

लेकिन अब ये कैसे होगा? अब तो शिक्षक प्रशिक्षण तथा In-service Training Programme जैसी सेवाकालीन प्रशिक्षण की भी outsourcing चालू हो गई है। आपके यहाँ भी यह शुरू हो गया है। इन एजेंसियों को न जानें ये जो foundations या NGOs आपके यहां आ रहे हैं, उनकी अर्थव्यवस्था का स्रोत्र क्या है, उनके उद्देश्यों और उनकी कथनी व करनी में फर्क को कभी तो समझने की कोशिश करें।

6 शिक्षा की नवउदारवादी विचारधारा को चुनौती के कुछ उदाहरण और विकल्प

हमने अब तक यह देखा है की किस तरह आधुनिक राष्ट्र राज्यों के उदय के साथ ही सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्थाओं की स्थापना होने लगी; फिर कैसे नवउदारवादी दौर में शिक्षा का बाज़ारीकरण शुरू हुआ, और कैसे नवउदारवाद ने शिक्षा के ढाँचे में नई-नई परतें खड़ी करके गैर-बराबरी को और ज़्यादा बढ़ाने का काम किया है।

दूसरी तरफ इसी नवउदारवाद के दौर में, जब वर्ल्ड बैंक और विश्व व्यापार संगठन दुनिया भर में सरकारों पर शिक्षा पर खर्च कम करने का दबाव बना रहे हैं, स्कैंडिनेवियन देशों जैसे फिनलैंड, डेनमार्क, और स्वीडन आदि, ने पूरी तरह से राज्य द्वारा वित पोषित सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था की स्थापना की है।

जर्मनी, जहां सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था की स्थापना सबसे पहले शुरू हुई, वहां इसका ढांचा अब भी काफ़ी मज़बूत है। उसकी कई संस्थाएं जैसे मैक्स वेबर फाउंडेशन और रोज़ा लक्समबर्ग फाउंडेशन आदि में रात में नए तरह के संगठन उतारने की कोशिश कर रहे हैं। ये सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था के समर्थन में विमर्श और शोध को प्रोत्साहित करने का काम करेंगी, न कि इंग्लैंड की DFID, या विश्व बैंक या दूसरे अन्य NGOs की तरह निजीकरण की वकालत।

ग्रीस ने खुद इंग्लैंड में भी 4 जून 2015 में No to Austerity Campaign में शिरकत की जिसमें 1 लाख से ज़्यादा लोग शामिल हुए। विश्व बैंक ने कहा कि सामाजिक महत्त्व की मदों (social sector) पर पैसा कम खर्च करो तो सरकारें austerity (मितव्ययता) के नाम पर ऐसा करने लगीं। इंग्लैंड में विश्व बैंक की इस दबावकारी नीति के खिलाफ इतना बड़ा आंदोलन (campaign) हर साल आयोजित किया जाता रहा है जिसमें लाखों लोग शामिल होते रहे हैं। वहाँ जो औरतें और मर्द अपने छोटे-छोटे बच्चों को लेकर आए थे, उससे मैं तो बहुत प्रभावित हुआ। अभी हाल ही में पहली बार वहां की लेबर पार्टी ने यह ऐलान किया है की आनेवाली आम चुनावों के घोषणापत्र (manifesto) में वह एक राष्ट्रीय आयोग गठित करने का वादा करेंगे जो निजी शिक्षा संस्थाओं का राष्ट्रीयकरन करेगा।

पिछले कई दशकों से, अमेरिका में 'समान स्कूल व्यवस्था' को बर्बाद करने के विरुद्ध जबरदस्त विरोध प्रदर्शन चलते रहे हैं। दरअसल, सार्वजनिक व्यवस्था की बर्बादी का सबसे ज़्यादा प्रभाव, वहां के गरीब गोरों के साथ-साथ वहां के मूल निवासियों और दूसरे देशों से आए काले लोगों व अन्य अल्प संख्यकों पर सबसे ज़्यादा पड़ा है। इसलिए उनके गठजोड़ से बनी सामूहिक एकता के द्वारा लगातार सार्वजनिक शिक्षा संस्थानों को बचाने की लड़ाई लड़ी जा रही है। अक्सर ऐसे संघर्षों का नेतृत्व महिलाएं कर रहीं हैं।

चीन भी 2004 के बाद से समान शिक्षा व्यवस्था (common education system) के रास्ते पर वापस लौटने लगा है। 1990 के दशक से उन्होंने भी स्थानीय समुदायों (local communities) के हाथों में कई बुनियादी इंतज़ामों की ज़िम्मेदारी देने के नाम पर सरकार की भूमिका को कम कर दिया था, जैसे शिक्षकों की नियुक्ति आदि। स्थानीय समुदायों को बोला कि स्कूल पर खर्च करो इस व्यवस्था ने उनकी शिक्षा व्यवस्था को कमज़ोर करना शुरू कर दिया था, जिसे उन्होंने 2004 में वापस पलट दिया। अब उन्होंने वापस पुराना रास्ता अपना लिया। पैसा देना, टीचर नियुक्त करना सरकारों का काम है। समुदाय ज्ञान सृजन में अपना योगदान दे।

भूटान जैसे एक छोटे-से देश के राजा ने भी यह नियम लागू किया है कि राज परिवार के बच्चे उन्हीं स्कूलों में पढ़ेंगे जहाँ बाकि के बच्चे पढ़ने जाते हैं।

तो क्या भारत वह रास्ता नहीं चुन सकता था? ज़रूर चुन सकता था। पहली बार आज़ाद देश की सरकार ने यह मौक़ा संविधान बनाते समय खोया, जिसकी चर्चा हम ऊपर कर आए हैं। दूसरी बार यह अवसर 1960 के दशक में मिला। जब 1962 में भारत को चीन के साथ हुए युद्ध में नुकसान उठाना पड़ा, तब हमारी केंद्रीय सरकार में यह चिंता व्याप्त हो गई थी की देश को मज़बूत आधार कैसे दिया जाए। तब सरकार ने 1964 में शिक्षा और राष्ट्रिय विकास के लिए प्रोफेसर कोठारी की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया, जिसने अपनी रिपोर्ट 1966 में पेश की। इस

Scanned with OKEN Scanner
Scanned with CamScanner

विस्तृत रिपोर्ट के कई आयाम हैं। इनमें से कुछ तो आज ठीक भी नहीं लगते। लेकिन, इस रिपोर्ट की दो मुख्य सिफारिशें बहुत महत्वपूर्ण हैं।

1। इस रिपोर्ट में कोठारी कमीशन ने कहा कि देश का भला तब ही हो सकता है, जब राष्ट्रिय विकास के लिए शिक्षा की सार्थक भूमिका को स्वीकारा जाए और सरकार सकल घरेलु उत्पाद का कम से कम 6 प्रतिशत शिक्षा पर खर्च करे। यह तो सरकार आज तक नहीं करती है। सरकार शिक्षा पर सकल घरेलु उत्पाद का 3 प्रतिशत ही खर्च करती है जबकि अब तो यह व्यय ६ प्रतिशत से भी ज्यादा बढ जाना चाहिए था, लोग बढ गए और महंगाई भी बढ गई, इसलिए अब तो 10 प्रतिशत के जरूरत है। पर अब तो सारा ज़ोर शिक्षा को प्राइवेट संस्थानों के हाथों में देने की तरफ बढ़ता जा रहा है। केवल कुछ बहुत ही मजबूर लोगों के लिए ही साधारण केटेगरी के सरकारी स्कूल बचा रखे जा रहे हैं। हाल के समय के कुछ नीतिगत दस्तावेज़, जैसे सुब्रमण्यम समिति द्वारा प्रस्तुत राष्ट्रीय शिक्षा नीति की रिपोर्ट (2015) तो इस निजी निवेश को भी शिक्षा में होने वाले कुल खर्च में जोड कर यह दिखाने की सिफारिश करने लगे हैं की सकल राष्ट्रीय उत्पाद का कितना प्रतिशत शिक्षा पर खर्च होता है।

2। कोठारी कमीशन ने पूरे देश में पड़ोसी स्कूल की संकल्पना पर आधारित समान स्कूल व्यवस्था लागू करने की सिफारिश की थी। संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायलय के द्वारा 1954 में दिए गए ऊपर वर्णित निर्णय की तरह ही कोठारी आयोग ने कहा कि राज्य के द्वारा ऐसा भेदभाव नहीं होना चाहिए की अलग-अलग विद्यार्थियों केलिए अलग-अलग तरह के स्कूलों की व्यवस्था हो। लेकिन जब उस ज़माने में प्रायवेट स्कूल बहुत कम थे और शिक्षा का ऐसा व्यापारीकरण नहीं हुआ था जैसा की हम आज देखते हैं, तो कोठारी कमीशन ने समान पड़ोसी स्कूल की संकल्पना पर आधारित समान स्कूल व्यवस्था लागू करने की सिफारिश क्यों की? इसे समझने के लिए यह याद रखना बहुत ज़रूरी है जो अक्सर वर्तमान शिक्षा नीति के विश्लेषक भूल जाते हैं की उस समय भारत को किस प्रकार की बहु-परती शिक्षा व्यवस्था सामाज्यवाद की विरासत के रूप में मिली थी। इसकी चर्चा हम लेख के आरम्भ में ही कर आए हैं।

कोठारी कमीशन ने समान स्कूल व्यवस्था की सिफारिश उस ज़माने में पेश की जब भारत में गैर-बराबरी का सबसे बड़ा रूप जातिगत भेदभाव का था। लोग पिछड़ी जाति के विद्यार्थियों के साथ बैठना नहीं चाहते थे। शायद यह आयोग की समान स्कूल व्यवस्था की सिफारिश को लागू न करने का एक बड़ा कारण रहा। इसके अलावा संभ्रांत वर्ग अपने अलग अंग्रेजी माध्यम वाली स्कूलों के माध्यम से अपना वर्चस्व नौकरशाही, अर्थव्यवस्था व राजनीति में बनाए रखना चाहता था। यह इसके बावजूद की सरकार ने 1938 की राष्ट्रिय शिक्षा नीति में समान स्कूल व्यवस्था

को लागू करने का वादा किया था। अभी प्रीवी पर्स की समाप्ति नहीं हुई थी।, प्रांतीय भाषाओं पर आधारित गैर-कॉंग्रेसी क्षेत्रीय राजनैतिक ताकतों का उद्भव होना अभी बाकी था। आरक्षण भी मुख्यतः कागज़ों तक सीमित रहने की वजह से सार्वजनिक क्षेत्रों में हाशिये के लोगों की आवाज़ सशक्त नहीं हुई थी। अब तो इन में से कई बदलाव हो चुके हैं। तो आज क्या संभावना है।

शिक्षा के बाज़ारीकरण के दौर में खराब होती हुई सरकारी स्कूलों की हालत से पैदा होने वाले राजनैतिक दबाव का एक अच्छा उदाहरण बिहार राज्य में देखने को मिला। वहां नितीश कुमार की सरकार को बिहार में समान स्कूल व्यवस्था लागू करने का मसौदा तैयार करने के लिए मुचकुन्द दुबे की अध्यक्षता में एक आयोग गठित करना पड़ा। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट राज्य सरकार को 2007 में सौंप दी। लेकिन तबसे राज्य सरकार ने इसे लागू करने की कोशिश नहीं की। यह शिक्षा अधिकार क़ानून के केंद्र सरकार द्वारा 2009 में पारित किये जाने से पहले की बात है। अब शायद मुश्किल पहले से भी ज़्यादा बड़ी है क्योंकि केंद्र सरकार के कानून में समान स्कूल व्यवस्था का प्रावधान नहीं है, बल्कि निजी स्कूलों की वैधानिकता को और भी मज़बूत किया गया है।

एक तरह से देखें तो आज हमारे लिए समतामूलक सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था को स्थापित करने की लड़ाई पहले से भी कठिन हो गई है। हमें यह पहचानना पड़ेगा कि सबसे ज़्यादा किसी चीज़ को छीना तब जाता है जब वह पहले से भी ज़्यादा बड़ी मांग बन जाती है। शिक्षा का निजीकरण और सरकारी शैक्षणिक संस्थानों की खराब हालत उस दौर में ज़्यादा बुनी गई है जब सरकारें शिक्षा को अधिकार के रूप में पेश करने लगी हैं। इसे नव-उदारवादी छलावे की नीति के रूप में भी देखा जा सकता है।

साधारण सरकारी स्कूलों की हालत में बुनियादी सुधार की संभावनाएं तो अब पहले से भी बहुत कम हो गई हैं। आज सरकारी व गैर-सकारी, दोनों ही क्षेत्रों में तमाम किस्म के स्कूल स्थापित हो गए हैं जो न केवल संसाधनों और सुविधाओं के स्तर पर एक दुसरे से ऊंचे-नीचे हैं, बल्कि समाज के अलग अलग वर्गों और समुदायों के विद्यार्थियों को उनकी हैसियत के मुताबिक़ दाखला देते हैं। हालांकि शिक्षा अधिकार क़ानून 2009 ने प्राइवेट स्कूलों की पहली कक्षा में होने वाले दाखिलों में 25 प्रतिशत कोटे की व्यवस्था की है, लेकिन यह हम ऊपर ही दिखा चुके हैं की इसका क्या नकारात्मक प्रभाव बहुसंख्यक लोगों के साधारण सरकारी स्कूलों पर पड़ा है।

दूसरी तरह से देखें तो यह लग सकता है की भले ही उस ज़माने में लोगो ने कोठारी आयोग की ऊपर वर्णित दोनों सिफारिशों के महत्व को शायद उतनी गंभीरता से न लिया हो, लेकिन आज

Scanned with CamScanner

उनके महत्व को शायद बेहतर तरह से समझ सकेंगे। उन्हें चरितार्थ करने की अनुकूल परिस्थितियां (objective conditions) बनने लगी हैं, क्योंकि आज शिक्षा व्यवस्था में व्याप्त भेदभाव पहले से भी ज्यादा साफ नजर आने लगा है। अब तो अधिकांश जातियों, वर्गों व सम्प्रदायों के लोग इसका शिकार हो रहे हैं, क्योंकि अब व्यवसायीकरण (commercialization) का घुसपैठिया उनके घरों तक पहुँच गया है, हर जगह वो इस घुसपैठिये के द्वारा पीसे जा रहे हैं। बुनियादी सुविधाओं व सेवाओं (जिसमें शिक्षा भी शामिल है) के बाज़ारीकरण का संकट इस हद तक बढ़ता जा रहा है की अब यह उस वर्ग को भी चिंतित करने लगा है जो अबतक अपने आप को इससे बाहर समझ रहे थे। जैसे डॉक्टरों के कई बड़े संगठनों ने भी शिक्षा के व्यवसायीकरण के खिलाफ चोंचे खोला है।

यही एकसाथ तमिलनाडु के एक कलेक्टर (District Magistrate) और उनकी पत्नी को हुआ जब उन्होंने अपने बच्चे का सरकारी स्कूल में दाखिला करवाया। वो शायद यह चाहते थे की उनका बच्चा सरकारी स्कूल में पढ़े और वह एक उदाहरण बने अन्य रुतबे वाले लोग भी ऐसा करें और इस तरह से पूरी व्यवस्था बदले। लेकिन वो ज्यादा दिनों तक अपने इस फैसले पर कायम नहीं रह सके। दबाव शायद इतना था की उन्हें अपने बच्चे को सरकारी स्कूल से हटाना पड़ा। दरअसल यहां हम यह भी देख पाते हैं की सामाजिक समस्याओं को व्यक्तिगत स्तर पर सुलझाने की कोशिशों की क्या सीमाएं होती हैं।

शिक्षा के बाज़ारीकरण और बहु-परती व्यवस्था के इस प्रभाव जन-साधारण के लिए खोले गए सरकारी स्कूलों पर इतनी साफ तौर पर दिखने लगे हैं की अनायास जस्टिस अग्रवाल ने एक बहुत ही क्रांतिकारी निर्णय दिया। 18 अगस्त 2015 को इलाहाबाद उच्च न्यायालय के जस्टिस सुधीर अग्रवाल ने उत्तर प्रदेश सरकार को निर्देश दिया की वह सुनिश्चित करे की सभी सरकारी कर्मचारी, अर्ध- सरकारी कर्मचारी, स्थानीय निकाय, जन-प्रतिनिधि (सरपंच से लेकर मुख्यमंत्री तक) तथा राजकीय खज़ाने या सार्वजनिक निधियों से किसी भी तरह का लाभ या आमदनी उठाने वाले सभी व्यक्तिप्राथमिक शिक्षा पाने की उम्र के अपने बच्चों को सरकारी बेसिक शिक्षा बोर्ड द्वारा चलाए जा रहे प्राथमिक स्कूलों में ही भेजे। (उत्तर प्रदेश के विशेष सन्दर्भ में प्राथमिक शिक्षा का मतलब कक्षा 1 से 8 तक कि प्रारंभिक शिक्षा से है जिसमें उच्च प्राथमिक शिक्षा यानी कक्षा 6 से 8 भी शामिल है)। यह भी स्पष्ट है की इस फैसले के दायरे में केवल सरकारी- कर्मचारी, अर्ध-सरकारी-कर्मचारी और जन-प्रतिनिधियों के अलावा समाज का एक काफी बड़ा बहुसंख्यक तबका आता है। ऐसा इसलिए है की इस फैसले में उन लोगों को भी शामिल किया गया है जो राज्य के खजाने से किसी भी किस्म का कोई भी लाभ उठाते हैं जैसे ठेके पर लगाए मजदूर और ठेकेदार आदि।

अदालत ने पाया की आज़ादी के 65 सालों के बाद भी आम सरकारी स्कूल (जिन्हे इस फैसले में आम लोगों के स्कूल कहा गया है) बच्चों के लिए बुनियादी सुविधाओं से महरूम है, क्योंकि नीति -निर्धारक अपने बच्चों को संपन्न या अर्ध-संपन्न वर्गों के प्राइवेट स्कूलों में भेजते हैं और इसलिए सरकारी स्कूलों में उनकी कोई ख़ास रुचि नहीं रह गई है। अदालत ने सरकार को छह महीनों की तयशुदा अवधि के अंदर फैसले को लागू करके रिपोर्ट दायर करने का निर्देश दिया ताकि यह बदलाव मुमकिन हो सके।

अदालत ने उत्तर प्रदेश सरकार के मुख्य सचिव को यह निर्देश भी दिया की आदेश को न मानने वालों को सजा दी जाए। मसलन, अगर कोई व्यक्ति अपने बच्चों को बोर्ड द्वारा चलाए जा रहे प्राइमरी स्कूल में न भेजकर किसी निजी प्राइमरी स्कूल में पढ़ने भेज रहा है तो उसे ऐसे निजी प्रबंधन के स्कूल में दी जाने वाली फीस और दूसरे खर्चों के बराबर की रकम हर महीने सरकारी निधि में जमा करनी होगी। इस एकत्रित राशि का बोर्ड के स्कूलों की बेहतरी के लिए उपयोग किया जा सकता है। इसके आलावा अगर ऐसा व्यक्ति नौकरी में लगा है तो इस अवधि तक उसकी नियमित तनख्वा में वृद्धि पर रोक या पदोन्नति में रोक जैसे नुक्सान - जैसा भी ठीक रहे-ठहाने होंगे। यह केवल मिसाल के तौर पर कहा गया है। सरकार द्वारा उचित सावधान किये जाएंगे ताकि ऊपर लिखे विवरण के मुताबिक लोगो के बच्चो या उनकी देखभाल में पल रहे बच्चों को बोर्ड द्वारा चलाए जा रहे स्कूल में प्राथमिक शिक्षा लेने को मजबूर किया जा सके।

इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फैसले को ध्यान से पढ़ा जाए तो हम पाएंगे की इसका आधार 2009 का शिक्षा अधिकार क़ानून नहीं बल्कि वह पूरा संवैधानिक ढांचा है, जिसमे शिक्षा को अब बुनियादी हक़ का दर्जा मिल चुका है। इसलिए अगर किसी आवेदनकर्ता ने आम लोगो के स्कूलों के पक्ष में ऐसे किसी निर्देश के लिए आग्रह न भी किया हो, फिर भी मौजूदा हालात को न्यायिक संज्ञान लें लेना अदालत का संवैधानिक विशेष और वैध अधिकार है, जिससे यह सुनिश्चित किया जा सके की बिना किसी अवरोध के नागरिक अपने बुनियादी हको का इस्तेमाल कर सकें। दूसरे बुनियादी हको की तुलना में शिक्षा का हक़ ऐसा अधिकार है, जिसके लिए पहले से इंतेज़ाम करना जरूरी है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने पाया की चूँकि राज्य के अधिकारियो के सरकारी स्कूलों से अपने निजी हित नहीं जुड़े हैं, इसलिए उनमे गैर-जिम्मेदाराना प्रवतिया है, जिसकी वजह से अद्ध्यापकों की भर्ती में गलत तरीके अपनाये जाते है और इससे शिक्षा के स्तर के साथ समझोता होता है। आखिर इन आवेदनों का मूल सवाल अद्ध्यापकों की नियुक्ति के लिए अनिवार्य योग्यता के साथ जुड़ा था, जो शिक्षा के बुनियादी हक़ का अभिन्न हिस्सा है।

उच्च न्यायालय ने ग़ौरमांया की कमी शिक्षकों के हज़ारो पदों पर नियुक्तियां होती थी, पर इन नियुक्तियों की निगरानी करने वाले अधिकारियों के गैर-जिम्मेदार, गलत और असावधानियों,

Scanned with OKEN Scanner
Scanned with CamScanner

समता की लड़ाई खत्म हो जाएगी? बिलकुल नहीं, क्योंकि उस दिन दूसरी समस्याएँ हमारे सामने खड़ी हो चुकी होंगी ये तो लगातार चलाए रखने लायक लड़ाई है।

पर गैर बराबरी के खिलाफ इस लड़ाई या प्रयास के लगातार चलते रहने से समाज, राष्ट्र, विश्व और इंसानियत की बेहतरी होती है और न चलने से अविकास व रुढ़ीवाद की प्रक्रियाएं मज़बूत होती हैं क्योंकि वो वितरणीय न्याय के सिद्धांत को उलट देती हैं। जब कम लोगों का विकास होगा तो समाज, राष्ट्र, विश्व या इंसानियत की बेहतरी कैसे हो सकती है। यदि ज़्यादा लोग उसका लक्ष्य होंगे तब वे स्वेच्छा से उसने अपना योगदान दे सकेंगे तो विकास की प्रक्रिया मज़बूत, रफ़्तार तेज़ और अवधी दीर्घकालिक होगी।

इसके अलावा समता का सवाल हर व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत गरिमा और अधिकार का प्रश्न भी है। इसलिए भी भेदभाव मुक्त समाज एक ज़रूरत है।

लेकिन बराबरी या गैर बराबरी का सवाल व्यक्तिगत, वर्गीय, लैंगिक, या सामुदायिक हितों के टकराव का सवाल भी है। गैर बराबरी की बुनियाद इस बात पर है की कुछ लोगों के पास ज़्यादा ताक़त, संसाधन और रुतबा है। वह इसे गवाना नहीं चाहते।

मौलिक रूप से ताक़तवर होने के अलावा, यह रुतबा एक ख़ास तरह की सोच भी पैदा करता है। यह हमारी मानसिकता में ऐसे जड़ जमा लेता है की हमें अक्सर यह एहसास भी नहीं होता की हम भी इसकी जकड में हैं। हम दूसरों का मूल्यांकन अपने चश्मे से करने लगते हैं और उन्हें अपात्र और अयोग्य बताने लगते हैं। उनकी कुशलताओं, ज्ञान, और विधाओं को मांपने की काबलियत दरअसल हम में बाकी ही नहीं रह गयी होती है।

अभी तो समता की चरम अवस्था वाली आदर्श कल्पित स्थिति नज़र में कहीं है ही नहीं। अभी जो लड़ाई हम लड़ रहे हैं, वो तो उन अधिकारों और उस स्थिति को हांसिल करने की है जोकि संविधान में वर्णित है, लेकिन हम आज तक उसे चरितार्थ नहीं कर पाए हैं। बल्कि ऐसा कहा जा सकता है की आज़ादी के बाद से हमारी सरकारों ने ऐसी बहुत सी नीतियां बनाई हैं जोकि संविधान में दिए गए नीति-निर्देशक सिद्धांतों, मौलिक अधिकारों और प्रस्तावना में वर्णित उन मूल्यों के उलट हैं जिनसे समाज में गैर बराबरी को कम किया जा सकता था।

जब भी वो स्थिति आएगी जहां हमने संविधान में वर्णित अधिकारों को सभी लोगों को हांसिल करवा दिया हो और उसके दृष्टिकोण के मुताबिक़ सामाजिक प्रगति कर ली हो तो आगे के रास्ते तय हो जाएँगे। शिक्षाशास्त्र से जुड़ी प्रक्रियाएं और उससे उत्पन्न तार्किक सोच ही उस स्थिति से जूझने व आगे ले जाने का काम करेगी।

उपसंहार

दरअसल, समतामूलक शिक्षा व्यवस्था की स्थापना एक काफी बड़ी राजनैतिक लड़ाई है। इसकी स्थापना तो एक किस्म की क्रांति के बराबर होगी। यदि शिक्षा एक राजनैतिक सवाल है; यह व्यक्ति के विकास और सामाजिक बदलाव का एक यंत्र है; और यदि शिक्षा में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने की संभावना हो सकती है; तो उसे यदि धीरे-धीरे, चरणबद्ध तरीके से (in gradual mode and stages) में हासिल कर भी लिया जाए, जैसे यहाँ हो रहा है, तो वो शिक्षा समाज में बदलाव लाने की बजाए, विषमताओं को और पुख्ता करने का काम करेगी। आप ही ने कहा कि सरकारी स्कूलों में 70 प्रतिशत संख्या लड़कियों की है। फिर भी यह सोचना ज़रूरी है की क्या ये सरकारी स्कूल उनके अनुकूल हैं? क्या हम अभी भी शिक्षा में लड़कियों की भागीदारी सही मायने में बढ़ा पाएँ हैं? क्या इस शिक्षा ने यह काम किया है कि वह पितृसत्ता के मूल्यों को चुनौती दे? और हमारे रोज़ के काम के विभाजन में यथोचित बदलाव लायें?

यदि धीरे-धीरे एक चरणबद्ध तरीके से आप शिक्षा अधिकार की सार्वजनिक व्यवस्था को हासिल कर भी लें तो उसके कायम होते-होते वह काफी कमज़ोर हो जाएगी और वो सारी चीज़ें गायब हो जाएँगी जो बदलाव के लिए ज़रूरी है। जैसा हम ऊपर ही देख चुके हैं की जब 1993 में जस्टिस उन्नीकृष्णन ने शिक्षा को एक मौलिक अधिकार माना, उसके बाद से पिछले लग-भग तीन दशकों में, मौलिक अधिकार को लागू करने की व्यवस्था में बढ़ते क्रम में नए-नए किन्तु परन्तु और पेचीदगियां कुछ इस तरह से लाई गई हैं की सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था का भविष्य ही खत्री में पढ़ गया है।

हकीकत तो यह है की हम उस दौर में हैं जब किसानों और आदिवासियों की ज़मीनों का हस्तांतरण कॉर्पोरेट घरानों को हो रहा है। वैश्विक पूंजी व बहुराष्ट्रीय कॉर्पोरेशनों के दबाव में साधारण लोगों के छोटे-छोटे दस्तकारी आधारित काम-धंधे वा कुटीर-उद्द्योग बरबाद हो रहे हैं। किसान बड़ी संख्या में गाँव से पलायन कर रहे हैं। एक नई किस्म की सेवा आधारित अर्थव्यवस्था (service economy) तेज़ी से अपनी जड़ें जमा रही है। दूसरे शब्दों में कहें तो उत्पादक को अपने उत्पाद और उत्पादन के साधनो से वंचित किया जा रहा है। आर्थिक गैर-बराबरी पहले से भी ज़्यादा बढ़ रही है। इस दौर में अब जन-साधारण के पास अपनी कुछ बेहतरी के लिए, समाज के उत्थान के लिए, और राष्ट्र निर्माण में अपना योगदान देने के लिए एक ही सीमित तरीका बच गया है; और वह है शिक्षा।

समस्या यह है की शिक्षा का अधिकार तो काफी समय से मौजूद है, फिर भी शिक्षा का सवाल अब भी कोई महत्वपूर्ण राजनैतिक मुद्दा नहीं बन पाया है। जिस दिन शिक्षा का सवाल सही मायने में राजनैतिक मुद्दा बनेगा, शायद तभी ये स्थितियाँ बदलेंगी। शिक्षा को लेकर कभी कोई राष्ट्रीय स्तर पर

Scanned with CamScanner

समतामूलक शिक्षा के निज़ाम का महत्व बेहतर समझ आ सकता है। इलाहबाद उच्च न्यायालय के फैसले ने इन ढांचागत विषमताओं को समस्या की जड़ माना है।

यह हालांकि ध्यान देने वाली दुखद बात है की न तो यह आदेश लागू किया गया; ना ही इसे सर्वोच्च न्यायालय में चुनौती दी गयी; ना ही इस सन्दर्भ में अवमानना का कोई मुकदमा सरकार के खिलाफ दायर हुआ; और ना ही कोई बड़ा जन-आंदोलन इसके समर्थन में खड़ा हुआ।

7 समान स्कूल व्यवस्था में गैर-सरकारी संस्थाओं का स्थान

आप के द्वारा पूछे गए दो अन्य सवालों से चर्चा को आगे बढ़ाते हैं। पहला सवाल समता के मतलब, ज़रूरत और संभावित के बारे में है; तो दूसरा प्रश्न यह जानना चाहता है की गैर-सरकारी संस्थाओं के विरोध के क्या कारण हैं। यह दोनों सवाल अपने-आप में इतने जटिल हैं की उन दोनों पर पूरे-पूरे पर्चे लिखे जा सकते हैं। मैं अपने उत्तर को मौजूदा विषय के सन्दर्भ तक सीमित रखूंगा और दूसरे सवाल को पहले लूंगा।

निजीकरण (privatization) का विरोध दरअसल निजीकरण और मुनाफाखोरी की प्रवृत्ति का विरोध और राज्य द्वारा पूरी तरह से वित पोषित समान स्कूल व्यवस्था का समर्थन है। इसका मतलब यह नहीं है की कोई व्यक्ति मौजूदा व्यवस्था में व्याप्त खामियों को दूर करने के लिए कोई वैकल्पिक स्कूल ही न खोल सके। मैं कभी भी ऐसा नहीं चाहूँगा कि ऐसी व्यवस्था बन जाए कि मेरे पास विरोध करने का हक ही न हो, सरकार चाहे किसी भी तरह से पढ़ाती रहे। लेकिन वर्तमान में जो निजीकरण की नीति चल रही है, दरअसल वह तो सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था को खत्म करने का और मुनाफाखोरी को बढ़ावा देने का जरिया बन गयी है।

निजी शिक्षा संस्थान दरअसल इस लिए अपत्तिजनक हैं की वे समान शिक्षा व्यवस्था के कई बुनियादी उसूलों का उल्लंघन करते हैं। जैसे कि आप को किसी भी आधार पर पड़ोस के स्कूल में पढ़ने से मना करे, जैसे की यह कहे की आपके पास पैसे नहीं। मान लीजिए कि आपके बगल में कोई स्कूल खुला है वह मैंने खोला है तो उस स्कूल का खर्चा कैसे चलाऊँगा ये मेरी ज़िम्मेदारी है। मैं ऐसा नहीं कह सकता कि आप इस स्कूल में नहीं पढ़ सकते। आप स्कूल खोलिए अगर आप राज्य द्वारा चलाई जा रही शिक्षा व्यवस्था से असंतुष्ट हैं। लेकिन आप बुनियादी सिद्धांतों के साथ खिलवाड़ करके पूरी सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था को खत्म करने का काम नहीं कर सकते। आप का उद्देश्य सामाजिक हित होना चाहिए न की व्यक्तिगत। किसी भी रूप में समता के मौलिक अधिकार के साथ समझौता नहीं किया जाना चाहिए।

यदि कहीं आपके व्यक्तिगत हित और सार्वजनिक हित में टकराव होता है तो एक लोकतांत्रिक व्यवस्था में सार्वजनिक हित को ही सर्वोपरि मानना चाहिए। मेरे एक दोस्त हैं उनको तमिलनाडु कि सरकार ने कहा कि क्यों ना आपका स्कूल बंद कर दिया जाए। शिक्षा अधिकार कानून की नियमावली के तहत स्कूल की मान्यता के लिए वहां खेल का मैदान होना ज़रूरी है, जो आपके स्कूल के पास नहीं है, तो उन्होंने सरकार को बहुत ही चौंकाने वाला और सटिक जवाब दिया कि हाँ आप निश्चित तौर पर मेरे स्कूल को सरकार के कब्ज़े में ले लें। मेरे दोस्त का यह मानना था की यदि सरकार ऐसा करेगी तो यह एक उदाहरण बन जाएगा। अगर वो ऐसा करेंगे तो उन्हें ऐसे सारे स्कूलों को सरकार के कब्ज़े करना में पड़ेगा। सरकार ने उनसे कहा की नहीं-नहीं, आप अपना स्कूल चलाते रहिये। हमारे पास दूसरे खेल के मैदान है जहां आपके स्कूल के बच्चे भी खेलने जा सकते हैं। यानी सरकार खुद भी ऐसे प्राइवेट स्कूलों को बचाना चाहती है जो शिक्षा अधिकार कानून में दिए गए मानकों और शर्तों को पूरा नहीं करते। इसीलिए राष्ट्रिय शिक्षा नीति पर कस्तूरीरंगन साहिब की रिपोर्ट में और अब तो राष्ट्रिय शिक्षा नीति के 2020 के मसौदे में स्कूल समूहों(school clusters) की अवधारणा भी पेश कर दी गई है।

इस तरह से देखें तो समान स्कूल व्यवस्था में वैकल्पिक स्कूल कुछ अपवादों के रूप में ही मौजूद रह सकते हैं। लेकिन वे कोई भेदभाव नहीं कर सकते। वे सार्वजनिक शिक्षा के विकल्प नहीं हो सकते। बल्कि वे कुछ वैकल्पिक तरह से पढ़ाने के प्रयोग के रूप में ही मौजूद रह सकते हैं। मैं तो यह भी मानता हूँ की यह छूट देने में भी ख़तरा है। इसलिए सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था में ही इतना खुलापन, लचीलापन और जन-सहभागिता बनाए रखना बहुत ज़रूरी होगा की कुछ अलग ढंग से पढ़ाने की आज़ादी हर शिक्षक के पास हो और पाठ्यसामग्री को लोकतांत्रिक तथा विकेन्द्रीकृत तरह से तैयार किया जाए ताकि वैकल्पिक स्कूल खोलने की ज़रुरत ही न पड़े जो आगे चलकर निजीकरण और अन्य किस्म के भेदभावों के जड़ पैदा हों। इसके लिए, सबसे पहले कदम के रूप में, सभी मौजूदा प्राइवेट तथा विशेष वर्गों के सरकारी व सरकार से सहायता प्राप्त स्कूलों का समान स्कूल व्यवस्था के अंतर्गत राष्ट्रीयकरण करना ज़रूरी होगा।

8 समता का सवाल

आपका यह सवाल वाजिब है की क्या समाज में कभी पूरी तरह से बराबरी हांसिल की जा सकती है? ये हो सकता है की समता की एक चरम अवस्था वाली आदर्श कल्पित स्थिति (utopean state of equality) कभी भी स्थापित न हो सके, या आ भी जाए तो अधिक समय तक न टिके।

फ़र्ज़ कीजिये कि किसी दिन गैरबराबरी के वो सारे रूप खत्म हो जाएं जिनके बारे में हम आज सोचते हैं और कल्पित आदर्श स्थिति या समता की चरम अवस्था हांसिल हो जाए, तो क्या उस दिन

Scanned with CamScanner

जवाबतलबी के अभाव, बेईमानी और गिरती साख की वजह से ये नियुक्तियां गंभीर कानूनी दावपेंचों में उलझ गयी है। एक ऐसे वक्त जब आम बच्चो की शिक्षा के लिए सरकारे बिना प्रशिक्षण पाए या अपर्याप्त प्रशिक्षण पाए पैरा-टीचरो की नियुक्ति कर रही है, अदालत ने आम लोगो के स्कूलों में कुशल शिक्षकों की नियुक्ति पर सही चिंता जाहिर की और उत्तर प्रदेश सरकार के उन सभी विज्ञापनों को रद्द कर दिया जिनमे अध्यापक योग्यता परीक्षा (TET) में आए अंको या प्रशिक्षण के साथ किसी भी प्रकार का समझोता करते हुए अध्यापक की भर्ती की गई थी।

इस फैसले में यह भी कहा गया है की राज्य और केंद्र दोनों सरकारे हमेशा कहती रहती है की प्राइमरी स्कूल में बेहतरी लाना जरूरी है, पर जमीनी स्तर पर उनके इरादे कभी सच्चाई में नहीं बदलते। सरकार ने शिक्षा की कई योजनाए चलाई है, पर हालात और बदतर होते जा रहे है। इसलिए अदालत को आम लोगों के स्कूल पर निर्देश जारी करने को मजबूर होना पड़ा, ताकि सामाजिक तौर पर पिछड़े बहुसंख्यक बच्चो के बुनियादी हक़ को दबाया जा सके। इसे सामाजिक सशक्तिकरण भी बेहतर होंगे।

यह हम ऊपर ही देख आए है की कैसे शिक्षा अधिकार कानून 2009 में सरकारी स्कूलों के सुधार के सन्दर्भ में कोई तयशुदा समय सीमा के तहत ठोस कार्यक्रम मौजूद नहीं है। यह क़ानून ये भी सुनिश्चित नहीं करता की नीति-निर्धारकों के बच्चे साधारण लोगों के साथ पढ़ें ताकि यह तबका इन स्कूलों की बेहतरी के लिए ध्यान देने को मजबूर हो। जबकि जस्टिस अग्रवाल ने शिक्षा अधिकार कानून 2009 से कहीं ज्यादा सख्त रुख अपनाते हुए राज्य को आम लोगो के स्कूलों के पक्ष में ठोस कदम उठाने के लिए एक स्पष्ट खाका पेश किया।

सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Coourt) के एक फैसले ने शिक्षा अधिकार क़ानून 2009 के अंतर्गत गैर-सरकारी स्कूलों में 25 प्रतिशत आरक्षण के प्रावधान की सवैंधानिक वैधता को मान्यता दी थी। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के जस्टिस अग्रवाल वाले फैसले में सरकारी स्कूल व्यवस्था पर वापस ध्यान केंद्रित किया गया है।

सर्वोच्च न्यायालय ने शिक्षा अधिकार क़ानून 2009 के अंतर्गत गैर-सरकारी स्कूलों में 25 प्रतिशत आरक्षण के प्रावधान की संवैधानिक वैधता को मान्यता देते हुए एक तरह से यह माना की निजी क्षेत्र पर सार्वजनिक क्षेत्र, समाज और राज्य-सत्ता के भी कुछ अधिकार है। इसलिए जनहित में इस पर नियंत्रण किया जा सकता है। पर इस मुद्दे पर विमर्श से इस विरोधाभाषी बात को बल मिला की निजी स्कूल बेहतर होते है और इससे निजी स्कूलों में बच्चो को भर्ती करने की स्पर्धा बढ़ती है। हालांकि सर्वोच्च न्यायालय ने यह कदम सामाजिक न्याय के लिए उठाया, पर इससे सार्वजनिक शिक्षा के निजाम को मजबूत बनाने के जरूरी मुद्दे से ध्यान हटा।

वैसे भी निजी स्कूलो में पिछड़े बच्चो के लिए 25 प्रतिशत कोटा का हिसाब पहली कक्षा में बच्चो की भर्ती की अधिकतम संख्या पर ही लागू होता है। इसलिए प्रारंभिक शिक्षा की उम्र के बच्चो के 3 प्रतिशत से ज्यादा को इसका फायदा नहीं पहुंचेगा। इस प्रतिशत को बढ़ाने के लिए यह जरूरी हो जाएगा की शिक्षा में और ज्यादा निजीकरण होता जाए। इसलिए इससे सरकारी और स्थानीय निकायों द्वारा चलाये जा रहे कुल ढांचे के 80 प्रतिशत स्कूलों की बेहतरी से ध्यान हटकर 20 प्रतिशत से कम के विभिन्न निजी स्कूलो पर चला गया है।

इसलिए निजी स्कूलों में भर्ती की संकीर्ण सोच वाली दौड़ को बढाती और दनादन निजीकरण को बढ़ावा देते शिक्षा अधिकार क़ानून 2009 के वनिस्वत सरकारी स्कूल व्यवस्था को बचाने और उसे बेहतर बनाने में जस्टिस अग्रवाल के फैसले में ज्यादा सक्षम नक्शा दिखलाई देता है। अगर हमारा मकसद गरीब, पिछड़े, दलित और जंगलो, कठिन पहाड़ी क्षेत्रों, सीमांत इलाकों, कम आबादी के इलाको वाले दूर-दराज़ के गावों और घनी आबादी वाली शहरी झोपड़पट्टी में रहने वालो समेत सभी बच्चो को स्तरीय शिक्षा देना है तो निजी स्कूलों में सिमित कोटा नहीं, बल्कि सरकारी स्कूलों की बेहतरी ही हमारा एकमात्र सार्थक विकल्प है।

हालांकि इलाहाबाद उच्च न्यायालय के फैसले में सरकारी मदद से चलने वाले या दीगर निजी स्कूलों के राष्ट्रीयकरण का आदेश नहीं है, लेकिन आज निजीकरण के दौर में सरकारी स्कूलों की कार्यकुशलता पर यकीन जताता यह फैसला बहुत खास है। कोठारी आयोग ने यह विचार रखा था की सरकारी स्कूलों का स्तर संतोषजनक बनाए रखने के लिए निजी स्कूलों का धीरे-धीरे विलीन हो जाना जरूरी है। पर उन दिनों निजी स्कूलों की संख्या कम थी। जबकि आज वे हर जगह कुकुरमुत्तों की तरह उग आये है। इसलिए अक्सर यह तर्क दिया जाता है की 1960 के दशक में समान स्कूल व्यवस्था की कल्पना भले ही संभव रही हो, पर आज यह संभव नहीं है। नवउदारवाद ने आम सोच में एक बड़ा बदलाव कर दिया है और यह माना जाने लगा है की सरकारी स्कूलों में शिक्षा का स्तर अनिवार्य रूप से घटिया होता है और निजी स्कूलों में बेहतर।

लेकिन किसी विचार का महत्व तब बेहतर समझ में आता है जब मौजूदा हालत साफ़ तौर पर उस विचार के उलट खड़ी नज़र आती हो। यही किसी भी बदलाव को लाने की उपयुक्त परिस्थितया कहलाती है जैसे- औद्योगिक क्रांति ने गरीब मजदूरों की फ़ौज खड़ी कर दी तो गरीबी हटाओ और सर्वहारा वर्ग की सत्ता स्थापित करने के नारे बुलंद हुए। इसी तरह जब औद्योगिक पूँजीवाद ने पर्यावरण का असीम दोहन किया तो पर्यावरण बचाव के आंदोलन शुरू हुए। उसी तरह, उपयुक्त परिस्थितियों के निर्माण होने पर, यानी जब सार्वजानिक शिक्षा व्यवस्था को व्यवसाईकरण के द्वारा बर्बाद करके ऐसे प्राइवेट स्कूलों के द्वारा विस्थापित किया जा रहा है जो समाज के विभिन्न वर्गों के साथ भेद- भावपूर्ण रवैया अपनाते है और अधिकाँश बच्चों को बहिष्कृत करते है, तब

Scanned with CamScanner

उतने बड़े जन आंदोलन नहीं हुए। कुछ आंदोलन हुए हैं, लेकिन वे भी काफी सीमित ही रहे हैं और उस मुकाम पर नहीं पहुँच सके जहाँ बड़ी संख्या में जन-साधारण को जोड़ सके हों।

फिर भी यह उल्लेखनीय है की ऐसे प्रथम सत्र के वक्ता आपको आम तौर पर कम ही मिलेंगे जैसे यहाँ उपस्थित हैं, जो DIET में बैठकर ये बात कहें कि हमें केवल संगोष्ठी नहीं करनी है यहाँ से कुछ बात आगे लेकर जानी चाहिए। असहयोग आंदोलन के समय गांधीजी ने कहा था की ऐसी शिक्षा बकवास है की जब देश संकट में हो और उसके विद्यार्थी और उसके शिक्षक संस्थानों से बाहर निकलकर स्वतंत्रता संग्राम में भाग न ले सके। वैसे ही अब हमें शिक्षा संग्राम में भाग लेने की ज़रूरत है।

एक लोकतांत्रिक देश में नागरिकों का यह फ़र्ज़ है की वो सरकारों पर जन-दबाव बनाएं की वह शिक्षा पर उचित ध्यान दे। चुनाव के दौरान अपने इलाके के प्रत्याशी से क्यों नहीं पूछते कि बताओ शिक्षा के बारे में आपकी क्या योजना है। आपने अब तक क्या काम किया है? यहाँ आप एक मुलाज़िम हैं लेकिन यहाँ से बाहर निकलने के बाद सबसे पहले आप एक शहरी यानि नागरिक हैं। आप एक सरकारी मुलाजिम बाद में हैं। लेकिन सबसे पहले आप एक नागरिक हैं। एक नागरिक होने के नाते आपका क्या कर्तव्य है? अगर आप शिक्षा के मामले में इतना गहराई से सोचते हैं तो सरकारी स्कूलों में दूसरा चिपको आंदोलन क्यों नहीं खड़ा हो सकता? क्यों आप अपने स्कूल कॉलेजों को बचाने और सुधारने के लिए स्कूल के बाहर के समुदायों को शामिल नहीं करते? यह भी सोचने की ज़रुरत है की आम लोग क्यों नहीं खड़े हो रहे हैं सरकारी स्कूलों, कॉलेजों, यूनिवर्सिटियों की रक्षा करने के लिए? आपको तो इतिहास रचना चाहिए था। इलाहबाद उच्च न्यायलय ने इतना क्रांतिकारी निर्णय दिया। इतना सुनहरा मौका था, उस पर भी कोई आंदोलन नहीं। कोई क्रांतिकारी निर्णय अपनेआप कैसे लागू हो जाएगा, जब उसके समर्थन में हमने कोई जबरदस्त आंदोलन ही खड़ा नहीं किया?

Scanned with OKEN Scanner
Scanned with CamScanner

Like Share Anirudh Deshpande and 162 others like this.

April 5, 2018 Thursday

Inclusive

~ AN INTERNATIONAL JOURNAL OF KOLKATA CENTRE FOR CONTEMPORARY STUDIES (KCCS) ~

ISSN 2278-9758; UGC (India) indexed Journal, Journal no. 45538

Inclusive: Special Article: Vol. 1, Issue 12 - January, 2018

Bhaurao Patil's Educational Work and Social Integration

Vikas Gupta

Introduction

Bhaurao Payagonda Patil (22 September 1887-9 May 1959) , popularly known as 'Karmaveer' Bhaurao Patil campaigned for the educational integration of dalits , peasants and other backward sections with a focus on the rural areas. [1]In terms of the number of educational institutions—schools, colleges and hostels—founded by him in the area now known as Maharashtra, which was then the part of the Bombay Presidency, Bhaurao's contribution is perhaps unparalleled among the protagonists of the non-Brahman movement at least in the sphere of education. Further, the case-study of Bhaurao's educational work help us understand the nature of Congress or Gandhian nationalism particularly in terms of the space it granted to the education of backward castes and classes. The paper also documents the problems faced by the students as well as the champions of the education of hitherto excluded groups and tries to assess existing historiographical understanding about the social groups who supported ventures for their amelioration. The present essay although examines mainly the educational work of Bhaurao Patil, it also occasionally juxtaposes his integrationist vision with the approach of the colonial state and some emancipatory struggles, as for instance strived by Jotirao Phule, Dr. B.R. Ambedkar and Mahatma Gandhi.

Early Life of Karmveer Bhaurao Pati

Bhaurao was born on 22nd September 1887 in a family of 'chiefly agricultural Jains living at Kumbhoj in the then Kolhapur princely state in southern Maharashtra'. His father, Payagonda Patil was a government clerk. [2]In 1902, he was admitted to Rajaram High School in Kolhapur and stayed at the Jain Boarding House. [3]However, in 1908, due to his fearlessness and non-conformist attitude, Bhaurao was expelled from the hostel on pretext of indiscipline.[4]

Nonetheless, Bhaurao got yet another chance of further study when Manikchand Hirachand Javeri, a Jain jewellery merchant and philanthropist invited him to Bombay and got him admitted in Davar's College of Commerce for training in book-keeping and typewriting in 1910. [5]Here too, Bhaurao could not complete the course. Even he could not develop any interest in the trade of Manikchand. Therefore, he finally returned home at Kumbhoj in the same year.[6]

Interestingly, thereafter, Bhaurao turned to private tuition as a means to earn his livelihood and became well-known in the neighbourhood as a good tutor.[7]The profession soon turned into an 'urge to do something for the education of those who could not pay him for his services'. [8]This urge led to his involvement in the Shikshan Prasarak Sanstha at Dudhgaon where some of his relatives used to live. [9]At Dudhgaon, he also came in contact with a village school teacher Dada Jinnappa Madhvanna, a Jain, whom Bhaurao credits with starting the Shikshan Prasarak Sanstha, Dudhgaon in 1910.[10]Bhaurao joined hands with him to open Dudhgaon Vidyarthi Ashram. Many other local enthusiasts also supported him including Nanasaheb Rauji Edekar (a Maratha by caste), Appasaheb Patil and Bhau Dada Kudale (both Jains). [11]The Ashram was open to students of all castes and religion and it also provided facilities of food and stay for the students of Dudhgaon and nearby villages. [12]The Ashram, which continued to function till 1930, became a precursor of the boarding houses that Bhaurao was to establish in due course of time.[13]

Bhaurao became friends with Balasaheb Khanvilkar who was son of Mamasaheb Khanvilkar, brother-in-law of Shahuji Maharaj. This friendship led Bhaurao into close association with Shahuji that made a lasting imprint on his future career as an educational activist and prolific institution builder.[14] .

Even when Bhaurao had started working as insurance agent of Bharat Insurance Co. Ltd. of Lahore in 1913, [15]he help public causes like persuading friends to buy insurance policies and assign them to Dakshin Maharashtra Jain Sabha. [16]Thus, even while working as an insurance agent, his central preoccupation remained education. This is also evident in his subsequent professional stints with Kirloskars and Coopers as we shall see below.

OLD ISSUES

- Jan-Jul 2017 - Vol. 1, Issue 10-11
- Jul 2016 - Vol. 1, Issue 9
- Jan 2016 - Vol. 1, Issue 8
- Jul 2015 - Vol. 1, Issue 7
- Jan 2015 – Vol. 1, Issue 6
- Jul 2014 – Vol. 1, Issue 5
- Jan 2014 – Vol. 1, Issue 4
- Jul 2013 – Vol. 1, Issue 3
- Dec 2012 – Vol. 1, Issue 2
- Apr 2012 – Vol. 1, Issue 1

SECTIONS

- Editorials
- Perspectives
- Book Review
- Commentary
- Special Articles

in his subsequent professional links with Kirloskars and Coopers as we shall see below.

Bhaurao joined the Ogale Glass Works in 1914 and simultaneously took sales agency for Kirloskars newly introduced iron-plough[17] . He utilized this opportunity to develop an extensive contact and understanding of peasantry and their needs. This was also the period when Bhaurao came under influence of the Satya Shodhak Movement and became its active and well-known propagandist in the region. Bhaurao resigned from the Kirloskars in November 1921 after some differences with his employers and a desire to devote more time to his educational pursuits.

Thereafter, Bhaurao joined the Cooper Engineering Works in 1922 after reaching an understanding with the owner Sir Dhanjishah Cooper that a portion of the profits will be used for education of children of the workers[18] . However, here too, his experience was unpleasant, because Bhaurao soon discovered that the Coopers were in no mood to part with their profits for education of worker's children. Bhaurao therefore left this job within a year, determined to devote all his time and energy to the educational cause dear to him.[19]

Since the second half of the nineteenth century, the demand for introducing compulsory Primary Education was repeated and rejected many times in the Bombay Presidency. For instance, as early as 1852, Captain Wingate, the then Revenue Survey Commissioner suggested that the proceeds of the cess should be utilised for the introduction of Compulsory Primary Education of three years for all sons of agriculturists. The demand was again repeated before the Indian Education Commission in 1882 by several witnesses, the prominent among whom was Jotirao Phule. In 1884, the Deputy Educational Inspector of Broach (Shri Shastri) put forward a scheme for introducing compulsion in his area. Sir Chunilal Setalwad, a prominent public worker of Bombay, submitted a memorandum to Government in 1894 and suggested that Compulsory and Free Primary Education supported by a local rate should be provided in all Municipal schools. Between 1902 and 1906, Sir Ibrahim Rahimtoola pressed for the introduction of Compulsory Primary Education in the City of Bombay in his budget speeches in the Bombay Legislative Council. Between 1910 and 1912, Gokhale made herculean efforts to introduce compulsory education in India and moved a bill for the purpose in the Central Legislature. [20]However, all these early demands—asserted by persons from different social backgrounds—to introduce compulsory education were unsuccessful, but they kept the concept alive and helped materially in creating a favourable public opinion for the purpose.

Subsequently, the first compulsory legislation, not only in the Bombay Presidency, but in India as a whole followed through the proposal made by Vithalbhai Patel whose bill on the subject became the Bombay Primary Education (District Municipalities) Act, 1918. It was at best an enabling act applicable only to urban areas excluding the City of Bombay. In spite of the great enthusiasm generated by the Act, only six Municipalities introduced compulsory education under it. This poor response was due mainly to the uninviting financial provisions of the Patel Act and due to the complete freedom provided to local authorities to introduce it.[21]

Nonetheless, following the introduction of Diarchy under Mont-Ford reforms of 1919, elected ministry of Bombay province appointed a committee under chairmanship of N.G. Chandavarkar to suggest ways and means of introducing compulsory primary education especially in the mofussil areas. It was on the basis of the recommendations of this committee that the Bombay Primary Education Act of 1918 was replaced with the Bombay Primary Education Act 1923, [22]which applied both to urban and rural areas. Moreover, it did not leave the matter of the introduction of compulsory Primary Education entirely on the desire of the local authority, rather gave power to the Government to push for it directly. Owing to financial difficulties, however, the progress of compulsory education was not satisfactory even after 1923. Only 11 Authorised Municipalities introduced compulsory education under the Bombay Primary Education Act, 1923.[23]

The Chandavarkar committee had issued questionnaires to elicit popular views on compulsory primary education. The responses indicated that compulsion was not acceptable, especially to the poor backward communities of the Deccan as it involved foregoing the earning of the children. Hence, the committee recommended that a widespread propaganda should be carried out to convince people of the benefits of compulsory primary education. Rayat Shikshan Sanstha was already founded by Bhaurao in 1919. Therefore, Bhaurao took up the opportunity and travelled extensively throughout the length and breadth of Satara to popularise the scheme for compulsory education. He organised 300 meetings in Deccan region for this purpose.[24]

However, due to various factors, the Act could not yield desired results. Some of these factors were related to the defects of diarchy. The popular ministries lacked effective control over the bureaucracy responsible for implementing the scheme. The bureaucrats were not responsible to the Indian ministers and their privileges and powers were fully secured. Thus, the ministers could do little to supervise the bureaucrats. Similarly, the Indian ministers were also not given any control over finances, resulting in severe constraints in implementing the scheme. These constraints increased especially after the depression that kicked off later in the decade, resulting in severe cuts in budget for education. In addition, since the Congress had boycotted the Mont-Ford reforms, the ministries were held by leaders of smaller political formations that did not had wide influence among the masses critical for implementation of such schemes.[25]As a result of all these factors, the scheme could never be implemented with the kind of energy and support required.

Still, Bhaurao's effort did not go completely in vain. As we shall see in the forthcoming section, he used this opportunity to expand the work of Rayat Shikshan Sanstha in the region. Moreover, when popular ministries were formed following the constitutional reforms of 1935, another new scheme for primary education was launched; and Bhaurao utilized the opportunity thus created to the fullest extent as we shall see below. During his educational work, Bhaurao also met the education minister Dr R.P. Paranjape, who complimented him for his efforts in popularising the scheme. Later, months before his death in 1959, Bhaurao received the honorary D.Litt. degree at the hands of Dr. Paranjape, who was then the Vice-Chancellor of Poona University.[26]

Since the main focus of the present essay is on Bhaurao's educational work, to which we shall revert showrtly, we here refer to his larger socio-political activism only briefly within this paragraph in order to give a sense of his affiliations, commitments and outlook. Bhaurao's socio-political activism can be traced back to the days when he was active as a Satya Shodhak in the region around Satara in 1920's when he launched agitations at several places for the rights of non-Brahman peasants to have ceremonial dinner along with the Brahman priests instead of being served with leftover food.[27] Later, Bhaurao was also instrumental in getting R.R. Kale and Bhaskarrao Jadhav elected to the Bombay Legislative Council in the elections of 1923 and 1927.[28]Bhaurao actively participated in the aborted Kameri Satyagraha at Kameri village in south Satara in 1929.[29]He supported freedom fighters during the 1942 Quit India

Satyagraha at Kanheri village in south Satara in 1929. He supported freedom fighters during the 1942 Quit India movement and allowed some of his students to participate in it.[30]The Shahuji boarding house at Satara became a centre of the underground freedom fighters during the period. However, under influence of Phule's cultural-educational ideas and Mahatma Gandhi's programme of constructive work, Bhaurao chiefly devoted his energy to educational work through the Rayat Shikshan Sanstha as discussed below.

Rayat Shikshan Sanstha

At the annual conference of the Satara District Satya Shodhak Samaj in 1919 at Kale, Bhaurao made the proposal to form an organisation to spread education among the rural masses , which was immediately accepted. Thus on 4 th October 1919, the Rayat Shikshan Sanstha (henceforth referred as *Sanstha*) was formally formed. A cosmopolitan boarding house was established under its auspices. A committee consisting of local leaders including Dattaji Patil, Narukaka Khot, Bhaurao Chaugule, Bandoba Shete and Bagal Guruji was formed for administration of the boarding house.[31]Some of the notable objectives of the boarding house, as mentioned in its annual report of 1921-22 were to create love for education among educationally backward people; to impart free primary education to the children from this class; to foster fraternal feelings among pupils belonging to different castes; to eradicate all unhealthy beliefs and practices and traditions; and to orient the boys for true development.[32]

Bhaurao's next venture was to open an English School and boarding house attached to the school at Nerle village (Taluq Walwa, Satara). A public meeting for this purpose was organised at the Nerle village on 8 December 1921 . It was presided by the erstwhile Collector of Satara Mr E L Moyce who also donated Rs 51 to the school. [33]A villager named Nivruthi Bala Ranakhambe gave his house rent-free for the school for ten years. [34]Apart from generous donations made by other public-spirited individuals, the Gujar community and the farmers of the village contributed a donation of Rupees 1002 for the school and the boarding house.[35]A 22-member local managing committee was also formed for administration of the school and the boarding house.[36]

Bhaurao decided to shift the base of the Sanstha from Kale village to Satara city in 1924 to devote his full time and attention to it. This led to establishment of an all-caste boarding house in Satara in 1924 with four boys including two Marathas, one Jain (Bhaurao's younger brother) and one Mahar. [37]The boarding house was rechristened as Chhatrapati Shahuji Boarding House in 1927 in a ceremony presided by Mahatma Gandhi. [38]The number of boarders increased steadily in the next years and by 1927 there were more than 30 boarders including 13 Marathas, 11 Mahars, two Mangs, two Muslims, one Dhobi, one Barber, one Wadar, one Jain, one Brahman, one Lingayat and one Ramoshi.[39]

This was a unique experiment as no distinction was made on the basis of caste or religion of the students. It may be noted here that the hostels opened by Shahuji Maharaj of Kolhapur were single-caste hostels only. [40]In this way, Bhaurao's experiment was a bold step ahead. Therefore, owing to its mixed clientele, it was also appreciated by Mahatma Gandhi during his visit to the boarding house. Nationalist discourse of anti-colonial freedom struggle might have its contradictions with regard to its actual support to unequivocal assertions of educational equality of all castes and classes, nonetheless, at least its Gandhian strand was appreciative of an integrated approach particularly when something substantial was demonstrated on ground by certain interlocutors with popular acceptance.

Of course, it was not an easy work for the interlocutors like Bhaurao. At one hand, Bhaurao's all-caste boarding house at Satara attracted adverse publicity with local people referring it as *sabgolankari* (a promiscuous gathering), [41]on the other hand, the boarders also faced discriminatory attitude from even those persons who otherwise supported the venture. It became sometimes additionally challenging to avoid discrimination owing to financial limitations as well. For instance, due to financial constraints, some of the boarders had to take food in the house of one Kolebai, a neighbour of Bhaurao. At her house, while the Maratha students were allowed to take food inside, the Muslims had to dine at the door while the lower caste boys had to eat food outside the house. Even in Bhaurao's house, the boys were not allowed by Laxmibai to enter the kitchen in the initial days. The boys of the all-caste boarding house of *Satara* also faced discrimination when they would go to take bath at the public tank. The caretaker of the tank use to stop them from using it assuming that all the boys were of lower caste. Bhaurao tried to resolve the matter through the municipality but it did not work. Therefore, he asked the boys to go ahead and use the tank but not to indulge in any violence. In an act similar to civil-disobedience, the boys continued using the tank even though the caretaker snatched their vessels repeatedly. Ultimately, the caretaker had to relent and allow them to use the tank.[42]

Another example of the infrastructural limitations exposing the students of the all-caste boarding house to the discriminatory behavior of outside society was that initially students used to reside in Bhaurao's home itself. However, as their numbers increased, some of the students were forced to rent rooms in the neighborhood. Finally, a two-storey building was rented in 1927 to accommodate the boarders. The building belonged to a relative of the Maharaja of Satara. Later in the same year, he also rented the Dhanini Garden, which belonged to the Maharaja himself, on lease of Rs 575 per annum that the boarding house could have its own common kitchen and tank.[43]

With increasing number of students, the expenditure of maintaining the all-caste boarding house at Satara also rose considerably. [44]Running the boarding house proved to be a costly affair for Bhaurao, whose all personal savings, including the savings and jewellery of his wife, were used in running the institution. Bhaurao used to collect donations from the public.[45]However, he did not issue any appeals for public donations during that period. He borrowed money from his friends and well-wishers.[46]However, this could not have worked for long without regular public support as the Sanstha was constantly expanding its activities.

Therefore, with a view to solicit support for the Sanstha, Bhaurao met Mahatma Gandhi in Pune after his epic fast which had culminated in the Poona Pact with Dr Ambedkar. Gandhi agreed to arrange for a grant by Harijan Sewak Sangh, Delhi. Thus, a sum of Rs 500 was granted annually by the Harijan Sewak Sangh to the Sanstha from 1933-34 to 1936-37.[47]

Besides this, through the efforts of a sympathetic collector of Satara, Hamid Ali, Bhaurao got an opportunity to meet the Governor of Bombay Lord Brabourne. On Brabourne's recommendation, the Bombay government started providing annual grants to the Sanstha from 1933-34 onwards (Rs 500) which kept on increasing thereafter. The Sanstha also started receiving a special additional grant of Rs 1200 from 1937-38 for admission of delinquent students in its institutions.[48] The Satara Collector was also instrumental in granting a piece of land to the Sanstha at char

in its institutions.[48] The Satara Collector was also instrumental in granting a piece of land to the Sanstha at Chai bhinti hills in 1936 where its headquarters now stand.[49]

Thereafter, the Sanstha regularly received grants except for a brief period during 1948-49 in the aftermath of assassination of Mahatma Gandhi. Anti-Brahman violence erupted in the region after the news spread that a B rahman murdered the Mahatma. The then Brahman-upper caste dominated Congress leadership of the state, including B G Kher and Morarji Desai, tried to implicate Bhaurao in the violence. [50]Contrary to the possibilities opened up with Bhaurao's alliance with Mahatma Gandhi, this episode could be taken as a revelatory example of the deep antagonism of the upper caste local elite towards the efforts of Bhaurao to spread education among the lower castes and other backward sections of society. At the same time, even this contradiction cannot be jacketed into any sort of rigid theory, as we witness throughout this essay that Bhaurao also received support not merely from the targeted backward sections of the population, but also from well-to do people for different interventions he made. Whatever it may be, the government grants to the Sanstha were resumed in January 1949.

Apart from different grants that Bhaurao could arrange from different bodies for his institutions, one quite important channel of Sanstha's resources was Bhaurao's personal capacity to enlist popular local support for the establishment of schools in remote villages. We have already seen this in many instances above. This is once again illustrated by the story of opening the school at Patan Taluq in which people of the surrounding villages volunteered labour and also donated other necessary goods for construction of the school building.[51]In many villages, where enough resources for construction of school building were not available, Bhaurao encouraged the villagers to use temples as school.[52]However, besides treating all donations and support extracted from people by Bhaurao for his educational activities as testimonies of certain characteristic features of his own personality alone, these should be also viewed as manifestations of popular sentiments for amelioration through education.

Expansion of the Rayat Shikshan Sanstha

The Sanstha expanded its educational activities steadily. It opened another cosmopolitan hostel in Pune in 1932. The Sanstha was registered in 1935 under the Registration of Societies Act, 1860 and Satara Collector was appointed as its first President.[53]The aims and objects of the Sanstha, as recorded in its constitution at the time of registration are as follows:

- To impart generally to the rising generation of India, and in particular to the residents of Maharashtra, a liberal and efficient pre-primary, primary, secondary and higher education embodying social, cultural, scientific, technical, agricultural, commercial, industrial and physical training;
- To train suitable teachers for the above purposes;
- To train village workers for the work of village up-lift and rural industries;
- To open free libraries and reading rooms, hostels, residential and ordinary schools and colleges and such other institutions as may be conducive to the attainments of the Aims and Objects of the Sanstha, as circumstances permit;
- To do all lawful things and acts as are incidental or conducive to the attainment of any of the aforesaid aims and objects.

In the same year, the Shahuji boarding house at Satara was recognised by the provincial government as a backward class hostel. [54]and from 1937 it also started receiving delinquent boys as boarders for which it received special grant from the government. Starting from four students in 1924, the number of boarders in Shahuji boarding house increased to 438 in 1944-45. Caste-wise, the Marathas and lower castes like Mahar, Mang and Chambhar constituted the largest number of boarders. Muslim students too were admitted in significant numbers. [55]The number of hostels run by the *Sanstha* also increased from 13 hostels in 1949-50 to 47 in 1959-60 and to 70 in 1969-70.[56]

The popularly elected Congress ministry formed government in Bombay province in 1937 and the idea of compulsory primary education gained ground again. The Bombay Primary Education Act of 1923 was amended in 1938 and a scheme of voluntary schools was introduced to expand schools in school-less villages. [57]Under this scheme, liberal grants were given to societies opening schools voluntarily in villages with no schools. Even before the government scheme was announced, Bhaurao had already made a scheme of voluntary schools for the Sanstha . According to his scheme, a teacher appointed by the Sanstha would go to a village without any school and start a school with help of local people. Education was to be provided free of tuition fee and the Sanstha was supposed to supply necessary stationery, books etc and also to pay the teacher. [58]The first such school was opened in 1936 at Dabewadi village in Satara and another one at Amboli village in Nasik. Subsequently, in 1938 almost 60 such schools were opened in different parts of Satara district. By 1949-50 there were 578 voluntary schools run by the *Sanstha* . [59]The *Sanstha* started its first secondary school in 1940 with aid of Rs 4000 from Maharaja of Baroda. [60]Subsequently, the number of secondary schools increased to 22 in 1950-51 and to 194 by 1963-64.[61]

Apart from hostels, schools and colleges, the Sanstha also opened a cultural centre and a cooperative bank. [62]This included the Rayat Sevak Co-operative Credit Society, Rayat Seva Co-operative Stores and Laxmibai Bhaurao Patil Educational Co-operative Fund, all these established in 1940.[63]

Establishment of Teacher Training Colleges

The non-Brahman movement had realised the importance of teachers from lower and backward caste background in the latter half of 19 th century itself. Mahatma Phule had demanded in his memorandum to the Hunter Commission that 'teachers for primary schools should be trained, as far as possible, out of the cultivating classes'. [64]In Phule's view, such teachers would not discriminate against the students from lower and backward castes, exercise a beneficial influence over the masses and will not feel ashamed to hold the handle of the plough or the carpenter's adze. [65]In addition, in Phule's view, such teachers will also be conscious of the problems of their caste and will be committed to

addition, in Phule's view, such teachers will also be conscious of the problems of their caste and will be committed to educate the lower and backward caste children.[66]Similar views were also in circulation in the official circles as seen in the reports of the Hunter Commission, Chandravarkar Committee (1922), Abott and Wood Committee (1937) and other central and provincial government authorities.[67]

As a Satyashodhak activist inspired by Phule, Bhaurao was aware of this critical legacy. In addition, he had also made contacts with a number of backward caste teachers, who were uniting under the banner of Satyashodhak Samaj in the 1920's. [68]He was aware of the difficulties of lower and backward caste persons to get appointed as teachers in schools.

In 1921, Bhaurao was invited by K. B. Babar, a primary school teacher, to preside over a conference of backward class teachers held at Angapur taluka in Satara. At this conference, Bhaurao declared his intention to establish a teacher's training college. [69]This however materialised after fifteen years in June 1935, when the Sanstha established the Silver Jubilee Rural Training College for primary school teachers. It was named as 'Silver Jubilee' because the year 1935 was commemorated as the silver jubilee year of King George V. This was the first indigenous private initiative in this direction in the Bombay Presidency. [70]On 15 th August 1947, it was renamed as Mahatma Phule Training College. Although the college was primarily for teachers from non-Brahman background, as was usual with Sanstha's other institutions, teachers from upper castes were also admitted.[71]

This college was called a rural training institute because training in farming and related practices formed an integrated component of the course. A major reason for focussing on rural aspect was to train teachers in agricultural and related activities in addition to techniques of education so that they could educate the children of agricultural families to become competent and efficient agriculturists.[72]The first principal of the institute, K. S. Dixit, a retired Deputy Education Inspector, noted that the college started with seven students on its roll with the aim that 'the teachers should know not only the techniques of education but also be conversant with creative activities of the village like agriculture' so that they could act as proper guiding agents in the village.[73]

Subsequently, Bhaurao established a women teacher training college named Jijamata Adhyapika Vidyalaya at Satara in 1942 for the training of women teachers working in the five voluntary schools run by the Sanstha for girls. [74]Thereafter, five more training colleges were established by the Sanstha, namely, Latthe Adhyapak Vidyalaya (1950), Chhatrapati Shahu Adhyapan Vidyalaya (1952), Pandurang Desai Adhyapak Vidyalaya (1954), Maharaja Madhavrao Shinde Adhyapak Vidyalaya (1955) and Vitthalrao Deshmukh Adhyapak Vidyalaya (1962, three years after death of Bhaurao). B. T. College (for B.Ed training) was also started by the Sanstha in 1955.[75]

Some Clues for Assessing the Impact of Bhaurao's Education Movement

It would not be an exaggeration to say that Bhaurao Patil's work is nearly unparalleled in comparison to not only the other non-brhamin movements but also the progressive movements of the 20 th century in India. The sheer number of schools and colleges established by Rayat Shikshan Sanstha in Bhaurao's lifetime is an indication of its phenomenal achievement in opening education opportunities in rural areas of western Maharashtra especially among the backward castes including the *Dalits* .

Bhaurao's work is significant not only in a comparative sense with other non-Brahman movements, but also in context of the colonial efforts regarding education of the lower castes. This can be gauged by the number of students educated in Sanstha's schools. In 1940-41, it operated 199 schools with 6524 students. This increased to 395 schools with 13,287 students in 1945-46 and to 557 schools with 26,137 students in 1950-51. [76]This number can be compared to the total number of backward class students enrolled in the primary schools of Bombay Presidency, which was 2,31,322 in 1941-42; 2,34,713 in 1946-47; and 7,68,029 in 1951-52. [77]Another critical aspect of the movement is that the schools were primarily opened in rural areas having previously no school. Thus, Bhaurao was able to bring education to the sections that were the most deprived of it.

The data on caste composition of the students is not available. However, the data on caste composition of teachers for the year 1949-50 shows that out of total 823 teachers, 89 were from advanced castes, 646 from intermediate castes, 72 from backward castes and also 16 from Muslim community. [78]Caste composition of the students residing in the boarding houses is also available. As on 31 st March 1937, in Shahuji boarding house at Satara, there were a total of 164 boarders of various communities including 72 from the dalit castes.[79] In the boarding house at Poona there were a total of 20 residents including nine from dalit background. 80 In the Shahu Boarding House in 1942-43, there were 162 Marathas;[80] Mahars; 28 Mangs; 23 Chambhars; 9 Ramoshis; 10 Weavers; 10 Shepherds; 6 Kumbhars; 6 Sali; 1 Tailor; 4 Brahmans; 24 Muslims; 14 Jains; and 30 Others.[81]

Kakrambe's study on the impact of Bhaurao's educational work is based on questions and interviews of intellectuals and persons associated with the Rayat Shikshan Sanstha.[82] It shows that apart from expanding educational opportunities for the masses, especially for the lower and backward castes, Bhaurao's educational work also had an impact on the political milieu of western Maharashtra. Bhaurao took personal interest in encouraging his students to go for higher studies, government jobs, and even into politics. This definitely provided a ground for the lower castes to strengthen their position in Maharashtra. Kakrambe comments that although Bhaurao was providing education within the framework of colonial educational system, he also used it as a vehicle to spread his own educational ideals. M. S. Patole, an ex-student and boarder of the Sanstha , said in one of these interviews conducted by Kakrambe that the Sanstha contributed to social and political change by spreading education. He adds that it has contributed to rise of political and social leaders from among the lower and backward castes.[83]Kakrambe notes that the mass education programme of the Sanstha effectively challenged the dominance of higher castes, especially the B rahmans in social and political life. [84]Some of the respondents in the study also linked the work of the *Sanstha* with the rise of Peasants and Workers Party (A left party active in western Maharashtra) and to the penetration of 'leftist ideology' in the rural areas of western Maharashtra.[85]According to Kakrambe, the four principles of Bhaurao, viz. self-reliance, study, self-respect and manual labour contributed to the development of a democratic political culture in the region by cultivating active participation in nation-building and a sense of civic responsibility. [86]One of the respondents also notes that Bhaurao's mass education movement aimed at creating political consciousness in the illiterate masses about their rights and responsibilities as members of the society. [87]Out of the 107 respondents, nearly 89 per cent agree that Bhaurao's movement contributed towards securing social justice in public life.[88]

According to Kakrambe, the study also shows that Bhaurao's educational movement contributed towards political socialisation by helping the students in changing old beliefs and attitudes and adopting modern outlook and values. The students became conscious of the social-political life and read newspapers and listened to radio and they also took interest in local public affairs. Respondents of the study contend that the students and teachers of the Sanstha formed an important source of political recruitment for the Peasants and Workers Party as well as the Congress party. Bhai G D Lad, one of the respondents and a leader of the Peasants and Workers Party, too accepts that Bhaurao's education movement strengthened the forces of social equality in the rural areas of western Maharashtra. [89]Social mobility is an important aspect of social equality. Many of the respondents also claimed that the movement provided an opportunity to the lower and backward castes to get education and thus to raise their social and economic position. Thus, it contributed to social mobility and hence, to social equality on a large scale. More than 70 per cent of the 107 respondents claimed that they wished to abolish the caste system, while more than 80 per cent accepted that the experience of common boarding house made them forget caste differences.[90]

Of course, this study is quite limited to form basis of any conclusive statement about the impact of Bhaurao's education movement in the region, yet it gives a glimpse of the kind of expectations associated with the movement and its supposed outcomes. This is not a tiny achievement for the movement that it is associated with larger democratisation of the society.

Curiously, despite its phenomenal growth, the *Sanstha* did not expand beyond Maharashtra. According to G.N. Devy the Sanstha was seen from outside as well as from inside as a special preserve of the Maratha community.[91]This argument holds some ground because the number of Maratha students in the hostels run by the Sanstha remained substantially more than students from other communities.[92]

Conclusion

Bhaurao was inspired by the anti-Brahmanical progressive movements of Maharashtra led by Jotirao Phule and Shahuji Maharaj and his efforts in establishment and expansion of Rayat Shikshan Sanstha is a testimony to his commitment to the cause of education of the masses especially the village peasantry and backward castes. [93] He sought to bring about social change by eradicating untouchability through his educational efforts. Therefore, the gates of the institutions founded by him were open for all castes and religions without distinction. but it was not a shallow colonial rhetoric of equality, where due caution was necessary to ensure tranquillity before the enforcement of the law and where in order to avoid any danger, separate schools were approved for each caste and class. [94]In fact, Bhaurao's institutions were not merely opened equally for all castes and classes, appropriate additional focus was also provided to ensure the participation of students from historically marginalized social backgrounds leading to a situation where they formed the majority within an integrated setting with others.

Therefore, here we find a remarkable difference between not only Bhaurao's educational efforts and the colonial state which often compromised the rights of untouchables, but also between Bhaurao and his ideals, Phule and Shahuji. The schools opened by Phule were meant especially for the lower castes and that too for girls in the initial period. [95]The committee formed by Phule to manage the schools was called 'Society for increasing education amongst Mahars, Mangs, and others'. [96]Similarly, the network of hostels established by Shahuji admitted students according to their caste or religion: separate hostels for separate castes and religious groups. [97] In contrast, Bhaurao's hostels, schools and colleges were open to all castes, because, 'to foster fraternal feelings among pupils belonging to different castes' was one of the objectives of the boarding house started by him.[98] . In other words, the purpose of Bhaurao's educational institutions was not merely to uplift the lower and backward castes, but also to break down the divisive barriers of caste in the larger society within an integrationist framework.

Another important difference between Phule and Bhaurao is their attitude towards the nationalists, especially in the Congress. Phule was extremely critical of the nationalists as he saw them as Brahmanical revivalists who wanted to end the British raj to re-establish the Brahmanical Peshwa regime.[99]He therefore condemned the 1857 uprising as upper caste reaction. [100]The same attitude and suspicion was also exhibited by Phule towards various upper caste led social and public organisations including the Congress.[101]However, Bhaurao developed close connection with Mahatma Gandhi. Of course, significant sections of the upper caste Congress leadership, especially in Maharashtra were against Bhaurao. This was most blatantly visible in the aftermath of Gandhi's assassination when government aid to the *Sanstha* was completely stopped (as mentioned above in this essay) at the behest of top Maharashtra congress leadership including B G Kher, the then chief minister. Yet, it is crucial to underline that *Bhaurao* was able to develop alliances with certain sections of the nationalist camp and used it for his educational enterprise. The nationalist leaders also had interest in developing such alliances with the view to provide a broad base to their movement and for cultivating a wider legitimacy for their cause. This alliance provided Bhaurao with the necessary support, financial as well as socio-political, for sustaining the education movement he had initiated.

Philip Constable has suggested that the educational initiatives of the second generation of dalit leaders were far more sustainable than by others, be it Christian Missionaries, state or other reformers, [102]however, Bhaurao was neither a Missionary, nor a caste leader, and yet, he built institutions which survived. Further, if he faced opposition from upper caste Hindus, then, at the same time his supporters were also found everywhere.
Phule developed a comprehensive ideological critique to challenge Brahmanical dominance. Education was one part of that critique as it also included other aspects, such as the call for political mobilisation and the need to develop alternative religious and spiritual practices etc. While Bhaurao created such a vast network of educational institutions in western Maharashtra, he hardly attempted to expound systematically educational ideas or philosophical thoughts. Therefore, it is no wonder that he is referred as 'practical philosopher'[103]or 'commonsense philosopher'[104] by his biographers.

Bhaurao's focus was exclusively on education. Unlike Phule, Bhaurao did not develop a powerful intellectual critique of Brahmanism, its historical role in oppression of the lower castes, its ideological apparatus facilitating its hegemony, and its continued prominence during colonial period. On the contrary, sometimes, Bhaurao hailed memories of Brahmanical superiority in the bygone periods. For instance, in one of his speeches, he talked about the ancient times when Brahmans were intelligent and self-sacrificing and they studied Vedas and shared their knowledge with the common people [105]It could be viewed as a way of critiquing contemporary Brahmans. On the other hand, this might

common people." It could be viewed as a way of critiquing contemporary Brahmans. On the other hand, this might suggest that like Gandhi and Gijubhai, Bhaurao fought against caste system and particularly against untouchability, but somehow failed to develop a comprehensive critique of *varna* system, the actual holder of caste distinctions. However, this possible line of review requires additional research.

According to Elleanor Zelliot, in Bhaurao, the 'passion to improve rural life' was the major motivating factor rather than commitment to any non-Brahman creed even though he took inspiration from the democratic aspects of the movement. [106]However, the problem with this suggestion is that it does not adequately recognize the special role Bhaurao perceived of education in bringing about a social change.

One other argument could be that Bhaurao's vision was not as fundamentally transformative as that of Phule. There is no doubt about the potential effectiveness of Phule's ideas for ideological, political and pedagogic combat of Brahmanism. However, due to merely this absence in Bhaurao's work, it would not be fair to perceive minimally the concrete or manifest impact of his solid organizational intervention at the regional level and political alliances he was able to forge with the nationalists. Moreover, there is no solid reason to believe that Bhaurao's approach of preferencial focus on backward caste/class children within pluralist schools possessed lesser potentials than more sharply defined identity framework of separate schooling.

Nonetheless, there was one key aspect of the difference of Bhaurao's educational institutions from the model proposed by Phule and Gandhi, which compromised its potentials for braking the hegemony of a particular kind of bookish knowledge as the core of education and thereby reproducing class and caste inequalities. Bhaurao founded educational institutions with what was called the agrarian bias. Students studying in Sanstha's institutions were expected to perform manual labour and thus contribute to their own education. However, some exceptions were provided. For instance, there was a kind of 'Earn and Learn Scheme',[107]wherein the student in a school or college performed manual labour and was paid for the job. The earning contributed a part of expenses of the student lessening his/her financial burden. In case of students who could not pay anything for their education, they had to work extra hour or for extra months during the summer vacations. Thus, the pedagogic aspects of this scheme were somewhat compromised by making manual labour optional–mandatory only for those students who could not pay their fees; and elective for those who possessed paying capacity. This was different from Phule, who considered physical labour as too critical an aspect to make it optional. Instead, Phule had suggested that practical knowledge of agriculture and other productive works should be made an integral part of school education.[108] Later on, Gandhi also conceived of manual work as a mandatory aspect of his educational scheme called ' *Nai Talim* '. Moreover, Bhaurao thereby used a practice which afterwards saw large scale application in broader educational system of the country to get certain kind of manual labor performed in schools—for cleaning the school premises—by linking it with punishment to late comer students.[109]

Notes and References

1. Author acknowledges with thanks the financial support received from ICHR and the research assistance provided by Lokesh Maltiprakash for this study.
2. Eleanor Zelliot, *Experiments in Dalit Education: Maharashtra, 1850-1947* , in *Education and the Disprivileged: Nineteenth and Twentieth Century India* , Sabyasachi Bhattacharya, ed., New Delhi, Orient Longman. 2002, p. 43; and P. G. Patil, *The Bountiful Banyan* , 4 volumes, New Delhi, Macmillan, 2002, p. 18.
3. S. A. Kakrambe, *Karmaveer Bhaurao Patil and Mass Education Movement,* 1983, p. 68.
4. R. A. Kadiyal, *Karmaveer Bhaurao Patil – His contribution to education in Maharashtra,* Satara, Indumati Publication, 1987, p. 4.
5. Ibid.
6. Ibid., p.5.
7. Anjilvel Matthew, *Karmaveer Bhaurao Patil* , Satara, Rayat Shikshan Sanstha, 1957, p. 68.
8. S. S. Bhosale, *Mahatma Phule to Bhaurao Patil* (Marathi), 1964, cited in S. A. Kakrambe, op. cit., p. 72.
9. Anjilvel Matthew, op. cit. , p. 72.
10. Ibid.
11. Ibid., pp.72-73.
12. Ibid.
13. Ibid., p.75.
14. Anjilvel Matthew, op. cit. , p. 62.
15. P. G. Patil, op. cit. , 37.
16. Anjilvel Matthew, op. cit. , p. 75. The *Dakshin Maharashtra Jain Sabha* was a reformist Jain organization that had also started some educational institutions in the area.
17. Ibid., p. 87.
18. S. A. Kakrambe, op. cit. , p. 75.
19. Anjilvel Matthew, op. cit. , pp. 133-34.
20. For this summary, see, Government of Bombay, *Review of Education in Bombay State 1855-1955* , Published in 1958, pp. 92-93.
21. Ibid.
22. Government of Bombay, *Review of Education in Bombay State* 1958, p. 31.
23. Ibid., pp. 93-94.
24. R. A. Kadiyal, op. cit. , pp. 96-97.
25. Government of Bombay, op. cit. , pp. 26-27.
26. R. A. Kadiyal, op. cit. , p. 98.

27. P. G. Patil, op. cit. , p. 180-85.
28. R. A. Kadiyal, op. cit. , p. 98.
29. Anjilvel Matthew, op. cit. , p. 178.
30. P. G. Patil, op. cit. , pp. 104-106.
31. Ibid., p.117.
32. Ibid.
33. Ibid., p.118.
34. Ibid.
35. Ibid.
36. Ibid., p. 122.
37. Anjilvel Matthew, op. cit. , p. 141.
38. R. A. Kadiyal, op. cit. , p. 75.
39. Anjilvel Matthew, op. cit. , p.162. This figure was given by a boarder named Ganadev Dhruvnath Gholap in the welcome speech delivered during Mahatma Gandhi's visit in 1927 to rechristen the boarding house. However, there is discrepancy as to exact number of students as he mentions only 34 students later in the speech.
40. Chhatrapati Shahuji Maharaj (1874-1922), who assumed the throne of Kolhapur state in 1894, is recognized as a major figure of the non-brahmin movement in western India, Gail Omvedt, *Cultural Revolt in Colonial Society* , 2011 (first published in 1976).
41. R. A. Kadiyal, op. cit. , p. 48.
42. Anjilvel Matthew, op. cit. , pp. 144-47.
43. P. G. Patil, op. cit. , pp. 124-25.
44. Cited in Anjilvel Matthew, op. cit. , p. 163. The amount of Rs 3500 refers to the sum paid in rent for the leased buildings as the boarding house did not had any building of its own by that time.
45. Ibid., p.163. Anjilvel Matthew mentions that Bhaurao received Rs 163 from the common public, however, the period during which this amount is received is not mentioned.
46. Ibid., pp. 144-45 and P. G. Patil, op. cit. , p. 243.
47. P. G. Patil, op. cit. , pp. 144 & 305-09.
48. Ibid., p. 144. In 1938-39 the Sanstha received Rs 2740 (including the additional grant) from Bombay government
49. Anjilvel Matthew, op. cit. , p. 256.
50. Ibid., p. 377-78. and P. G. Patil, op. cit. , pp. 61-101.
51. P. G. Patil, op. cit. , p. 318.
52. Anjilvel Matthew, op. cit. , p. 235.
53. Ibid., p.186.
54. P. G. Patil, op. cit. , p. 67.
55. R. A. Kadiyal, op. cit. , pp. 86-87.
56. Ibid., p.91.
57. Government of Bombay, op. cit. , p. 38.
58. R. A. Kadiyal, op. cit. , pp. 101-102.
59. Ibid., pp. 103-07.
60. Ibid., p. 219
61. Anjilvel Matthew, op. cit. , p. 464. (progress charts).
62. Eleanor Zelliot, op. cit. , p. 46.
63. R. A. Kadiyal, op. cit. , p. 177.
64. Phule, *A Statement for Information of the Education Commission* in *Education Commission, Bombay: Vol II, Evidence Taken Before the Bombay Provincial Committee and Memorials Addressed to the Education Commission* , Calcutta: Superintendent of Government Printing, 1882/1884, p. 142.
65. Ibid., p. 142
66. Jotirao Phule, *Gulamgiri* (*Slavery*), 1873, in *Selected Writings of Jotirao Phule* , G. P. Deshpande ed., New Delhi, Leftword, 2002, p. 96.
67. R. A. Kadiyal, op. cit. , p. 134
68. Ibid., p. 131
69. Ibid., p. 133.
70. Ibid., p. 141
71. Ibid., p. 140 and Anjilvel Matthew, op. cit. , p. 186.
72. First Triennial Report of Rayat Shikshan Sanstha, 1935-38, quoted in R. A. Kadiyal, op. cit. , p. 142
73. Report on the working of the Silver Jubilee Rural Training College, Satara, 1940-41, quoted in R. A. Kadiyal, op. cit. , pp. 142-43
74. R. A. Kadiyal, op. cit. , p. 149.
75. Ibid., pp. 149-56

75. Ibid., pp. 149-56
76. Ibid., p. 105.
77. Government of Bombay, op. cit. , p. 429.
78. Ibid., p. 106.
79. Quinquennial Report on Public Instruction in the Bombay Province 1932-37, 1938, p. 216.
80. Ibid.
81. R A Kadiyal, 1987, op. cit., pp 86-87.
82. S. A. Kakrambe, op. cit. , pp. 113-152.
83. Ibid., p.119.
84. Ibid.
85. Ibid., pp.118-19.
86. Ibid., p. 121.
87. S. S. Bhosle interviewed by S. A. Kakrambe in S. A. Kakrambe, op. cit. , p. 122.
88. S. A. Kakrambe, op. cit. , p.123.
89. Ibid., p.132.
90. Ibid., p. 137.
91. G. N. Devy, 'Affirmative Action in Three Institutions', in *Beyond Inclusion – Practice of Equal Access in Indian Higher Education* , Satish Deshpande et.al eds., New Delhi, Routledge, 2013.
92. R. A. Kadiyal, op. cit. , p. 86.
93. G. N. Devy, op. cit.
94. William Wilson Hunter, Report of the Indian Education Commission, 1883, (Section on Caste; and Philip Constable, *Sitting on the school verandah: The ideology and practice of 'untouchable' educational protest in late nineteenth-century western India, IESHR* , Vol. 37, No. 4, 2000, pp. 383-422.
95. Dhananjay Keer, *Mahatma Jotirao Phooley,* 2013, pp. 23-24.
96. Ibid., p.39. However, O'Hanlon records that the committee was formed in 1853 after Phule fell ill and was unable to teach. Rosalind O'Hanlon, *Caste, Conflict and Ideology: Mahatma Jotirao Phule and Low Caste Protest in Nineteenth-Century Western India* , Cambridge, Cambridge University Press, 1985, p. 119.)
97. Eleanor Zelliot, op. cit. , p. 42.
98. P. G. Patil, op. cit. , p. 117.
99. Jotirao Phule, op. cit. , p. 88.
100. Ibid., p. 89.
101. Dhananjay Keer, op. cit. , p.224.
102. Philip Constable, op. cit., pp. 383-422.
103. P. G. Patil, op. cit. , pp.124-26.
104. R. A. Kadiyal, op. cit. , p. 316.
105. Bhaurao's speech delivered in 1949, cited in Anjilvel Matthew, op. cit. , p. 331.
106. Elleanor Zelliot, op. cit. , p. 47.
107. S. A. Kakrambe, *op. cit.,* p. 106.
108. Jotirao Phule, *A Statement for Information of the Education Commission* in *Education Commission,* op. cit. , p. 143.
109. For this, see Vikas Gupta, *Cultural Marginality and Reproduction of Stereotypes: An Insider's View on Practices of School* in Social Diversity, Inclusive Classroom and Primary Education in India, Manoj Kumar Tiwary et al eds., New Delhi, Orient Blackswan, 2017, Chapter 9.

Vikas Gupta
Department of History, University of Delhi
Contact: vikashistorydu@gmail.com

Copyright © Kolkata Centre for Contemporary Studies 2016
contact@theinclusive.org